रावणभाष्यम्

(भूमिका, हिन्दी अनुवाद और परिशिष्ट आदि सहित
रावण के ऋग्वेदभाष्य का उपलब्ध अंश)

श्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
संख्या..........
विषय..........
लोकहित - प्रन्यास - दिल्ली

सम्पादक
डा० सुधीरकुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, प्रभाकर, शास्त्री,
स्वर्णपदकी (दिल्ली और केरल विश्वविद्यालय)

प्रवाचक (रीडर), संस्कृतविभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

भारती मन्दिर
अनुसन्धान शाला
आर-२, विश्वविद्यालयपुरी. जयपुर-४

प्रकाशक:
भारती मन्दिर
अनुसन्धान शाला,
आर-२, विश्वविद्यालयपुरी,
जयपुर-४

सर्वाधिकार लेखक के अधीन हैं।

प्रथम संस्करण १९६७

मुद्रक:
१. भारत प्रेस, हांसूपुर, गोरखपुर
मूल और परिशिष्ट पृ० १-३२
२. श्री शङ्कर आर्ट प्रिण्टर्स, जयपुर
शेष और समस्त

विषयसूची

पृष्ठ

उपोद्धात १-४

भूमिका (यहां दाहिनी ओर संदर्भ संख्या दी गई है) १-९१

१. **रावण और उस के भाष्य का परिचय** १-९

रावण—१; व्यक्तित्व—२-५; चरित्र—५अ; तिथि—६; कृतियां—७-९; प्रस्तुत रावणभाष्य—१०; रावणभाष्य का मूल्यांकन—११ ।

२. **रावणभाष्य और वैदिक साहित्यगत मन्त्रव्याख्यान** १०-३३

शतपथब्राह्मण—१२-१३; ऐतरेयब्राह्मण—१४; कृष्णयजुर्वेदीय साहित्य—१५-२५; ऐतरेय रण्यक—२६-२७; तैत्तिरीय आरण्यक—२८; उपनिषदें—२९-३९; आश्वलायनश्रौतसूत्र—४०-४२; पदकार शाकल्य—४३-५१; यास्क—५२-५७; महाभारत—५८-५९; स्मृतियां—६०-६३; ऋग्विधान—६४-६७ ।

३. **रावण और अन्य वेदभाष्यकार** ३३-८४

माधव भट्ट—६८-७१; स्कन्दस्वामी—७२-७४; वेंकटमाधव—७५-७९; शंकराचार्य—८०-८७; आत्मानन्द—८८-९१; वररुचि—९२-९६; गुणविष्णु—९७-१००; आनन्दतीर्थ—१०१-१०३; उवट-महीधर—१०४-११४; सायण—११५-१४७; दयानन्द सरस्वती—१४८-१६२; ग्रिफिथ—१६३-१७७ ।

४. रावणभाष्य का वैशिष्ट्य ८४-९१

पदच्छेद—१७८-१८६; निर्वचन—१८७-१८९; वैदिक पद पारिभाषिक—१९०; कुछ धातुओं के नए अर्थ भी—१९१; द्विर्वचन तादात्म्यद्योतक भी—१९२; प्रमुखतया प्राचीनतम शैली—१९३; वेदभाष्यकारों में रावण का स्थान—१९४; रावणभाष्य का महत्त्व—१९५।

अथ रावणभाष्यम् पृ० १—१३.

(१) तद्विष्णो : (ऋ० १ । २२ । २०)-१; (२) तद्विप्रासो (ऋ० १ । २२ । २१)-१; (३) द्वा सुपर्णा (ऋ० १ । १६४ । २०)-२, (४) यस्तित्याज (ऋ० १० । ७१ । ६)-३; (५) हृदा तष्टेषु (ऋ० १० । ७१ । ८)-४; (६) इमे ये नार्वाङ् (ऋ० १० । ७१ । ९)-५; (७) सर्वे नन्दन्ति (ऋ० १० । ७१ । १०) -६; (८) किं स्विद् (ऋ० १० । ८१ । २)-७; (९) आविरभून् (ऋ० १० । १०७ । १)-८, (१०) चतुष्कपर्दा (ऋ० १० । ११४ । ३)-९; (११) एकः सुपर्णः (ऋ० १० । ११४ । ४)-१०; (१२) नासदासीत् (ऋ० १० । १२९ । १)-११; (१३) न मृत्युरासीद् (ऋ० १० । १२९ । २)-१२.

परिशिष्ट—१. रावण की व्याख्या के अनुसार मन्त्रों का पदच्छेद १४-१७

परिशिष्ट—२. रावणभाष्य का हिन्दी अनुवाद १७-२७

(१) तद्विष्णोः—१७; (२) तद्विप्रासो—१८; (३) द्वा सुपर्णा—१८; (४) यस्तित्याज—१९; (५) हृदा तष्टेषु—१९; (६) इमे ये नार्वाङ्—२०; (७) सर्वे नन्दन्ति—२१; (८) किं स्विद्—२२; (९) आविरभून्—२३; (१०) चतुष्कपर्दा—२३; (११) एकः सुपर्णः—२४; (१२) नासदासीन्—२५; (१३) न मृत्युरासीद्—२७.

परिशिष्ट—३.	ऋ० ३ । ८ । ४ का रावणभाष्य	२८
परिशिष्ट—४.	रावण द्वारा उद्धृत प्रमाणों की सूची	२९–३०
परिशिष्ट—५.	भगवद्गीतायाः श्लोकानामनुक्रमणिका	३१
परिशिष्ट—६.	मन्त्रानुक्रमणिका	३२
परिशिष्ट ७.	रावणभाष्य के विषय में हाल का मत	३३
परिशिष्ट—८.	रावणभाष्य में व्याख्यात मन्त्रों के वेदादि साहित्य में उपलब्धिस्थान	३४–३७
परिशिष्ट—९.	निर्वचनसंग्रह	३८–४०
परिशिष्ट—१०.	दैवज्ञ पण्डित सूर्य द्वारा व्याख्यात मन्त्रों की तालिका	४१–४३
परिशिष्ट—११.	पदकोष	४४–६८
परिशिष्ट—१२.	संक्षेपविवरण और पुस्तकतालिका	६९–७९

ॐ

रावणभाष्यम्

उपोद्घात

ॐ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु ॥ ॐ

दैवज्ञ पण्डित सूर्य ने अपनी परमार्थप्रभा नामक भगवद्गीता की टीका में कतिपय वेदमन्त्रों के रावणभाष्य को उद्धृत किया है। इन उद्धरणों को सर्वप्रथम फिट्ज़ ऐडवर्ड हौल, डी० सी० एल० ने जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के भाग ३१ में संकलित किया था। इस संकलन में भ्रमवश अथवा अनवधानतावश उन्हों ने इन उद्धरणों में एक मन्त्र का सूर्यपण्डित का अपना भाष्य (देखो परिशिष्ट ३) भी संकलित कर दिया है। अतः उन के संकलन के संशोधन की आवश्यकता थी। अपने अप्रकाशित ग्रन्थ 'ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दी कम्मैण्टरी औन दी ऋग्वेद बाई स्वामी दयानन्द' के परिशिष्ट १२ में यह संशोधन प्रथम बार उपस्थित किया था। प्रस्तुत संस्करण उसी प्रयास का संशोधित और परिष्कृत रूप है।

२. इस संस्करण में भूमिका में रावण की भाष्यशैली का प्राचीन और अर्वाचीन अनेकों सम्बद्ध भाष्यकारों की शैली से साम्य–वैषम्य प्रतिपादक तुलनात्मक संक्षिप्त अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। मूल

में पहले ऋग्वेद का मन्त्र, फिर उस का संकेत, सूर्यपण्डित की टीका का गीता का स्थल-संकेत और पृष्ठ दिए गए हैं। उस के बाद कोष्ठों में गीता का श्लोक भी दिया गया है। तदनन्तर रावण का भाष्य दिया गया है। पादटिप्पणियों में उद्धरणों के संकेत और पाठभेद आदि सामग्री दी गई है। प्रारम्भ में विचार था कि इस ग्रन्थ का माध्यम संस्कृत रक्खा जाए। परन्तु समय की आवश्यकता को अनुभव कर मूल संकलन के छपने के बाद माध्यम हिन्दी कर दिया गया। अतः मूल में टिप्पणियां आदि संस्कृतमाध्यम में हैं। दो परिशिष्टों में भी संस्कृत का प्रयोग हो गया है।

३. सूर्यपण्डित ने रावणभाष्य के उद्धरणों से पूर्व 'रावणभाष्यम्' लिखा है। हौल ने ऋ० १. २२. २१ और १०. १०७.१ के भाष्य से पूर्व 'अत्र रावणभाष्यम्' और शेष सर्वत्र 'रावणभाष्यम्' लिखा है। क्यों कि इस संकलन में केवल रावणभाष्य ही संकलित किया गया है, और इस का नाम भी रावणभाष्यम् रक्खा गया है, अतः मुद्रण में प्रत्येक मन्त्र के भाष्य से पूर्व ये शब्द नहीं लिखे गए हैं। सूयपण्डित ने लगभग पचास मन्त्रों के व्याख्यान के पूर्व केवल 'भाष्यम्' पद लिखा है, अथवा कुछ भी नहीं लिखा है। इन मन्त्रों का भाष्य सायण के भाष्य से भिन्न है। ये व्याख्यान सूर्यपण्डित के ही प्रतीत होते हैं। यदि रावण के होते, तो वे इन के पूर्व भी 'रावणभाष्यम्' लिखते। इस लिए इन को यहां संकलित नहीं किया गया है। केवल परिशिष्ट १० में इन की सूची दे दी गई है।

४. ग्रन्थान्त में ग्यारह परिशिष्टों में रावण के भाष्यानुकूल मन्त्रों का पदच्छेद, भाष्य का हिन्दी अनुवाद और उपयोगी अनुक्रमणिकाएं दी गई हैं। इन में परिशिष्ट ९ में रावणभाष्य के निर्वचनों का संग्रह है, तथा परिशिष्ट ११ में मातृकाक्रम से पदकोष दिया गया है। इस कोष में कतिपय अन्य भाष्यकारों के रावण के अर्थों से भिन्न अर्थ भी

संकलित कर दिए गए हैं। मूलतः इन भेदों को लक्ष्मणस्वरूप द्वारा सम्पादित ऋगर्थदीपिका की शैली पर मूलभाष्य के साथ-साथ पादटिप्पणियों में देने की योजना थी, परन्तु ग्रन्थ के संकलन और मुद्रणकाल में यथेच्छ सामग्री उपलब्ध न होने से यह योजना त्याग दी गई और पदकोष में कुछ मतभेदों के प्रदर्शन से ही सन्तोष कर लिया गया।

५. श्री के० वी० शर्मा ने सुझाव दिया था कि इस सम्पादन में रावण द्वारा रचित कुछ अन्य लघु ग्रन्थों को सम्मिलित करना भी उपयोगी रहेगा। उन्हों ने कुछ ऐसे ग्रन्थों के हस्तलेखों का निर्देश भी अपने पत्र में किया था। उन हस्तलेखों के अध्ययन से पता चला कि वे रावण की रचना नहीं हैं। अतः उन का संकलन यहां प्रस्तुत नहीं किया गया है। इन में से पदरत्नमूल एकाक्षर बैट् की पाण्डुलिपि शुद्ध हो जाने पर कहीं प्रकाशित कर दी जायगी।

६. पं० भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर ने अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास के वैदिक भाष्यकारों के खण्ड में रावण के एक पदपाठ का निर्देश किया है। परन्तु वह अभी देखने को नहीं मिल पाया है। अतः उस का यहां कोई उपयोग नहीं किया गया है।

७. यह संकलन दैवज्ञ पण्डित सूर्य तथा सामराज आदि अन्य लघुभाष्यकारों के एवंविध संकलनों के समान स्वतन्त्र होते हुए भी लेखक के 'वेदभाष्यकारों का आलोचनात्मक अध्ययन' के पूरक रूप में माना जा सकता है।

८. ग्रन्थ का मुद्रण गोरखपुर में १९६० में चालू हुआ था मूल और ६ परिशिष्ट वहीं भारतप्रेस, हांसूपुर में छपे थे। १९६१ में मेरे जयपुर चले आने और यहां की कतिपय अननुकूल परिस्थितियों में अब तक यह कार्य पूरा न हो पाया। भगवान् की परम दयामय प्रेरणा

और अनुभूति से तथा अनुकूल परिस्थितियां उपस्थित करने से यह ग्रन्थ अब विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है।

९. इस में मानव के स्खलन स्वभाववश प्राप्त त्रुटियां ज्ञात होने पर अगले संस्करण में, यदि वह निकला, तो दूर कर दी जाएंगी।

१०. ग्रन्थ के मुद्रकों—भारतप्रेस गोरखपुर और श्री शंकर आर्ट प्रिण्टर्स, जयपुर के प्रबन्धकों और कार्यकर्त्ताओं के सहयोग और कार्य-कौशल के लिए उन का आभारी हूँ। अनेकों विद्वानों के ग्रन्थों और सुझावों आदि से इस ग्रन्थ के प्रकाशन को प्रेरणा और सहायता मिली है। मुद्रण काल में प्रूफसंशोधन आदि में मेरी पुत्री और शोत्रशिष्या कु० सुकेशी रानी गुप्ता, एम० ए० तथा पुत्रों और प्रकाशक बन्धुओं श्री सुबोध कुमार गुप्त, बी० ए०, श्री अनिल कुमार गुप्त और श्री प्रमोद कुमार गुप्त ने पूर्ण तत्परता और तन्मयता से योग दिया है। इन सब का हार्दिक धन्यवाद है।

आर-२, विश्वविद्यालयपुरी,
जयपुर-४

सु० कु० गुप्त

भूमिका

१–रावण और उस के भाष्य का परिचय।

रावण

१. पिछली कुछ शताब्दियों से रावण एक वेदभाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। फिट्ज ऐडवर्ड हौल ने लिखा है[1] कि कलकत्ता से प्रकाशित ग्रहलाघव के संस्करण (पृ० ५) में मल्लारि के लेख मे इंगित होता है कि रावण ने वेद के कुछ अंशों पर भाष्य लिखा। अजमेर और ग्वालियार तथा अन्य स्थानों में उन्हें कुछ ऐसे पण्डित मिले जिन्हों ने निश्चयात्मक रूप में कहा कि उन्हों ने रावणभाष्य देखा है और उन के पास रहा भी है। इन पण्डितों के मतानुसार यह भाष्य सम्पूर्ण ऋग्वेद और यजुर्वेद पर था।

२. नामसाम्य के कारण लोक में सामान्य धारणा वेदभाष्यकार रावण का लंका के राजा और रामायण के प्रतिनायक रावण से तादात्म्य करती है। इस धारणा को तो बिना किसी समीक्षा के तुरन्त ही त्यागा जा सकता है। आगे के विवरण भी इसी निष्कर्ष की ओर इंगित करते हैं।

३. कुछ लोगों के मत में रावण और सायण एक ही व्यक्ति हैं। लेखप्रमाद से सायण रावण बन जाते हैं। परन्तु रावणभाष्य

१. जरएसब०, १८६२, भाग ३१, पृ० १२९। उन का लेख परिशिष्ट ७ में संकलित है।

के अंशों को सुरक्षित रखने वाले दैवज्ञ पण्डित सूर्य सायण और रावण में रावण का एक रामायणीय पर्याय प्रयुक्त कर भेद प्रदर्शित करते हैं—

'विदित्वा वेदार्थं दशवदनवाणीपरिणतम्'[२]।

सूर्य पण्डित ने एक स्थल पर रावण और सायण दोनों का नाम लेते हुए दोनों के भाष्यों में तुलना की है। रावणभाष्य अध्यात्मपरक है और सायणभाष्य अधिदेवात्मक—

"सायनभाष्यकारैराधिदैविकाभिप्रायेण बाह्यसंग्रामविषयो दर्शितः। रावणभाष्ये तु अध्यात्मरीत्याभ्यन्तरसंग्रामविषयो दर्शितः। वोटभाष्ये तूभयमपि।"[३]

एक अन्य स्थल पर कण्वसंहिताभाष्यकार कह कर सायण का एक मत भी दिया है।

"अत्र कण्वसंहिताभाष्यकारस्तु तत्सवितुरिति विश्वामित्रः सावित्री गायत्री तदिति षष्ठ्या विपरिणाम्यते।"[४]

अतः दैवज्ञ पण्डित सूर्य के मत में रावण और सायण दो भिन्नभिन्न व्यक्ति हैं। इन दोनों के भाष्य की तुलना आगे दी गई है। वह भी सूर्यपण्डित के विचार को पुष्ट करती है। सूर्यपण्डित को मन्त्रों के गीता के विषय के अनुरूप आध्यात्मिक अर्थों की खोज थी, जो उसे रावणभाष्य में ही मिल सके। अतः उस ने रावणभाष्य का आश्रय लिया। जहाँ उस ने अपना भाष्य दिया है, वहाँ सम्भवतः रावण का भाष्य या तो उपलब्ध न था, या उन के अनुकूल न था।

२. गी० प०, पृ० १३२७। ३. वही, ११।३३, पृ० ८२८।
४. वही, १०।३५, पृ० ७८५.

४. दयानन्द सरस्वती ने भी रावण और सायण दोनों का युगपत् उल्लेख कर दोनों को पृथक्-पृथक् माना है।—

'यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि'[५]।

दयानन्द सरस्वती ने इस भेद-दर्शन के अतिरिक्त इन के विषय में और कुछ भी नहीं लिखा है। सायण की तो उन्होंने बहुशः आलोचना की है; उस के, उवट, महीधर, मैक्समूलर और विलसन के मतों की समीक्षा की है। उवट और महीधर के भाष्यों से उद्धरण भी दिए हैं, परन्तु न रावण के किसी मत की उल्लेखपूर्वक समीक्षा की है, न उस में से कोई उद्धरण दिए हैं। जैसा आगे के लेख से स्पष्ट होगा, रावण और दयानन्द के भाष्यों में पर्याप्त साम्य और सामीप्य है। अतः यह सम्भव है कि जितना रावणभाष्य यहां संकलित किया गया है, उस से पर्याप्त अधिक अंश दयानन्द सरस्वती को उपलब्ध रहा हो और उन्हों ने उसे देखा हो। दयानन्द की शैली, सम्पन्नता और व्यवहार आदि को देखते हुए यह स्वीकार करना सम्भव नहीं कि दयानन्द ने इतने से अंश के भाष्य के आधार पर ही रावण को वेदभाष्यकार मानते हुए, उसे सायण के समकक्ष रखते हुए उस के भाष्य को अस्वीकार्य घोषित किया। दयानन्द सरस्वती की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा, अजमेर तथा दयानन्द सरस्वती के प्रकाशित पत्र और विज्ञापनों से भी इस विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती है। कोई ऐसा अप्रकाशित पत्र भी अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है जिस में इस विषय का कुछ उल्लेख हो। उन के जीवन-

---

५. दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर सं० १९९१ वि.), पृ० ४०८

वृत्तों में भी एतद्विषयक कोई जानकारी प्रतीत नहीं होती है। कुछ भी हो, यह कल्पना करनी कठिन है कि उन्हों ने यहां संकलित अंश भी न देखा हो। यदि ऐसा होता तो वे सम्भवतः स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, आत्माराम आदि का भी नाम अपनी सूची में सम्मिलित करते। क्यों कि दयानन्द ने चतुर्वेदस्वामी और दैवज्ञ पण्डित सूर्य का कोई उल्लेख नहीं किया है, अतः यह हो सकता है कि उन्हों ने गीता की परमार्थप्रभा टीका को न देखा हो, और उन का रावणविषयक निष्कर्ष अन्य किसी साक्षी पर आश्रित हो।

५. रावण के विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। उन के प्रस्तुत भाष्य से ज्ञात होता है कि रावण वेद और दर्शन के बहुश्रुत पण्डित थे। उन पर शंकर के अद्वैत वेदान्त और मायावाद के सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव है। अतः उन्हों ने इस दर्शन का सविशेष अध्ययन किया होगा। उन्हों ने योग—हठयोग[६], आगमों[७], उपनिषदों, ऋग्वेद और यजुर्वेद, निरुक्त, अष्टाध्यायी तथा अन्य कतिपय ग्रन्थों से उद्धरण[८] दिए हैं। अतः इन सब का उन्हों ने अध्ययन किया होगा। उन्हों ने सामवेद और अथर्ववेद से कोई उद्धरण नहीं दिए हैं।

५ अ. रावण के भाष्य में उस के चिन्तन और विश्वासों के परिचायक कुछ महत्त्वपूर्ण विचार भी मिलते हैं। ये विचार वहां स्पष्टतया निर्दिष्ट अथवा ऊह्य हैं। इन की दृष्टि में रावण आध्यात्मिक रुचिवाले, धर्मपरायण, कर्म और ज्ञान के ज्ञानपरक समन्वय के विश्वासी, स्निग्ध और परोपकार भावना मे ओतप्रोत, जादू के चमत्कारों के तथ्य से परिचित, निष्काम कर्म के पथ के

---

६. रामा०, मं० २, पृ० २ ७. वही, मं० ५, पृ० ५

८. परिशिष्ट ४ देखें।

पथिक थे, तथा जनसामान्य को ज्ञान का परम स्रोत और सुधारक मानते थे। ये शंकर के मायावाद और अद्वैत वेदान्त के अनुयायी थे:—

(i) मित्र समान स्फुरण और एकरूप प्रकाश वाले होते हैं। ये परम प्रेमास्पद होते हैं।[१०] जल्पना में सत्य के अंश की कल्पना नहीं की जा सकती है।[११]

(ii) देवलोक परे है। मुक्त पुरुष अपने कृत और अकृत कर्मों के कारण देवलोक में भी जन्म नहीं लेते हैं। ब्रह्मभूत हो जाने से मुक्ति से पुनरावर्तन नहीं है।[१२]

(iii) जातिमात्र से विप्र सोमयाजी होते हुए भी उत्तम, मध्यम और अधम गति को प्राप्त होते हैं।[१३]

(iv) कृषिकर्त्ता फल की आशा रूप पाप से कृषि आदि यज्ञ-कर्मों का विस्तार करते हैं।[१४]

(v) आत्मप्राप्ति में उत्तमाधमत्व कारण नहीं हैं, प्रत्युत सर्वभूत सुहृत्तमत्व ही कारण है।[१५]

(vi) इन्द्र और परमात्मा एक ही हैं। आचार्यों को ज्ञान पितरों–प्रजाओं से प्राप्त होता है, उसी से सब जीव अज्ञान से मुक्त होते हैं।[१६]

(vii) इन का विश्वास है कि ऐन्द्रजालिक अपनी माया से अक्षोभ्य जल उत्पन्न कर सकता है, जो उस मायावी ऐन्द्रजालिक का आवरक नहीं होता है।[१७]

---

९. वही, मं० ३ १०. वही, मं० ४ ११. वही
१२. वही, मं० ६. दस० मुक्ति से पुनरावर्तनमानते हैं। १३. वही
१४. वही १५. वही, मं० ७ १६. वही, मं० ९
१७. वही, मं० १२

तिथि

६. इन की तिथि के विषय में विशेष कहना सम्भव नहीं। रावण के ऋ० १।१६४।२० के भाष्य का आत्मानन्द के भाष्य से सैद्धांतिक साम्य है।[१८] यदि आत्मानन्द रावण के भाष्य से परिचित होते,अथवा उसे प्रामाणिक मानते होते,तो सम्भव था कि वे रावण का उल्लेख कर देते। ह. ग. नरहरि ने इन की तिथि के निर्धारण का एक लघु-सा अनतिसफल प्रयास किया है। मल्लारि ने ग्रहलाघव में रावण का उल्लेख किया है। सूर्य पण्डित के गुरु चतुर्वेद स्वामी थे, जो वेद और अध्यात्म के पण्डित थे। सूर्य-पण्डित ने १५३८ ई० में लीलावती पर एक टीका लिखी थी। भास्कर के बीजगणित की साक्षी से १५३८ में सूर्यपण्डित ३१ वर्ष के थे। अतः इन का जन्म १५०७ में हुआ। अतः चतुर्वेदस्वामी को १४७७ ई० से १५०७ ई० के मध्य रक्खा जा सकता है, क्यों कि चतुर्वेदस्वामी ने अपनी साहित्यिक और शैक्षणिक गतिविधियां सूर्यपण्डित के जन्म से लगभग ३० वर्ष पूर्व चालू की होंगी। सूर्य-पण्डित ने रावण को सायण और वोट (उवट ?) के समकक्ष रक्खा है। अतः सूर्यपण्डित के युग में रावणभाष्य लब्धप्रतिष्ठ हो चुका होगा। अतः ह. ग. नरहरि रावण को १५ वीं शती ईसा के मध्यभाग से पूर्व रखना उचित समझते हैं।[१९] यह तिथि और भी ऊपर ले जाई जा सकती है। क्यों कि जैसा आगे दिखाया जायगा, रावण और सायण के भाष्यों में कुछ स्थलों पर तादात्म्य है, और

---

१८. देखो आगे संदर्भ ८८–९१

१९. अड्यार लाइब्रेरी बुलैटिन, ५।१९४१, एच. जी० नरहरि, दी डेट्स औफ चतुर्वेदस्वामिन् ऐण्ड रावण, पृ० १४१–१४३। वैबि० दा० १।३.१७, पृ० ५; अड्यार पुस्तकालय के अध्यक्ष द्वारा लेख की भेजी हुई टाइप प्रति के आधार पर।

कुछ पर घनिष्ठ साम्य है। सायण ने अपने भाष्य में स्कन्द से भी अक्षरशः भाष्य लिया है। अतः सायण को ही रावण से प्रभावित और उपकृत मानना समीचीन होगा। सायण १४वीं शती ईसा में रक्खे जाते हैं। आत्मानन्द, भगवद्दत्त के मत में, सायण के कुछ पहले हुए थे। अतः रावण को भी सायण से पूर्व और आत्मानन्द के आस-पास रक्खा जा सकता है।

कृतियां

७. जैसा ऊपर लिखा गया है, हाल की साक्षी के अनुसार रावण ने सम्पूर्ण ऋग्वेद और यजुर्वेद का भाष्य लिखा था। यहां संकलित मन्त्र ६ के अन्तिम वाक्य 'अतएव सावधिकफलां दक्षिणामग्निमश्रुत्याह-उच्चा दिवीति' से और मन्त्र संख्या १० के प्रथम वाक्यगत 'पूर्वोपक्रान्ता' पद से इन के ऋग्भाष्य की सम्भावना की जा सकती है। मं० ११ के 'अत एवाग्रतो वक्ष्यति "सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" 'इत्यादि' अंश से भी इस सम्भावना को बल मिलता है। यदि यह वाक्य एक चालू कृति का अंश न होता तो इस की रचना में 'आगे कहेंगे' के स्थान पर 'श्रुति। मन्त्र। आगे कहा भी गया है'—कुछ इस प्रकार रचना होती। इस सम्भावित सत्ता वाले ऋग्वेद के भाष्य के कुछ अंश दैवज्ञ पण्डितसूर्य ने सुरक्षित रक्खे हैं, परन्तु यजुर्वेद भाष्य का कोई अंश अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

८. भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर ने लिखा है[२०] कि लाहौर में द० ए० व० कालिज की लालचन्द लाइब्रेरी में रावण के पदपाठ का एक हस्तलेख पंजाब के विभाजन से पूर्व विद्यमान था। आज

२०. भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, (वेदभाष्यकार) भाग ३, लाहौर।

की इस की स्थिति ज्ञात नहीं। इस पुस्तकालय के सब हस्तलेखों को विश्वबन्धु शास्त्री यथा-तथा उद्धार कर ले आए थे और विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियारपुर में वे उपलब्ध हैं। परन्तु इस संस्थान के कथन के अनुसार वहां इस हस्तलेख की कोई सत्ता नहीं है।[२१] इस संस्थान से क्यूरेटर के० वी० शर्मा ने द.ए.व. कालिज के पुराने पुस्तकालयाध्यक्ष हंसराज का लिखा हुआ बिना हस्ताक्षरों के एतत्सम्बन्धी एक व्यौरा भेजा है जिस में वे लिखते हैं–" ह० ग्र० लाहौर में अवश्य आया था, परन्तु उसका मालिक उन्हें एक एक अष्टक करके दिखाना चाहता था, उनमें एक अष्टक था जिसमें "कुहकस्य शर्मन्" आया था, परन्तु ग्रन्थ की कापी नहीं की गई और ग्रन्थ लौटा दिया गया, क्योंकि मालिक उसे देने से इन्कार कर दिया गया. वह आदमी यू० पी० का था, उस आदमी के बारे में पं० भगवद्दत्तजी से पूछा जा सकता है।" पं० भगवद्दत्त से इस सम्बन्ध में अभी कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई है।

९. भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर ने रावण के उक्त पदपाठ से उदाहरण भी दिए हैं[२२]। यथा रावण कुहकस्य को एक पद मानते हैं. शाकल्य दो—कुहऽकस्य। शाकल्य का मास्मैतादृक् का पदपाठ मा। स्म। एतादृक् है, परन्तु रावण ने मा। अस्मै। तादृक् पदपाठ किया है। रावण के पदपाठ के अभाव में यह निर्णय करना सम्भव नहीं कि उस के और रावणभाष्य के पदच्छेदों में ऐक्य है या नहीं। यहां सम्पादित भाष्य में भी कुहकस्य को एक पद माना गया है।

---

२१. देखो संस्थान के पसं० ६।२।४४६३ दि० ४–२–६७, ६।२।४९२४ दि० २१–३–६७ तथा ६।२।४९४९ दि० २८–३–६७

२२. भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर, वैदिक वाङ्मय का इतिहास (वेदभाष्यकार), भाग ३, लाहौर; वेभाप० ९।५ भी देखें।

१०. दैवज्ञ पण्डित सूर्य की भगवद्गीता पर परमार्थप्रभा टीका में अधोनिर्दिष्ट तेरह ऋचाओं पर उन के आगे निर्दिष्ट (i) गीता के श्लोकों की टीका में और (ii) उस के गुजराती प्रेस के संस्करण के पृष्ठों पर रावणभाष्य मिला है। वही यहां संकलित है।

ऋग्वेदीय मन्त्र	गीता का श्लोक	गुजराती प्रेस के संस्करण के पृष्ठ
१।२२।२०	५।२८	४४१
१।२२।२१	५।२८	४४१
१।१६४।२०	८।४	६२२
१०।७१।६	१०।११	७५८
१०।७१।८	३।१८	२५६
१०।७१।६	३।१८	२५६
१०।७१।१०	६।३३	७३७
१०।८१।२	६।१०	६६१
१०।१०७।१	१८।१८	१३०७
१०।११४।३;४	७।१४	५८२
१०।१२६।१-२	६।१०	६६१

११. रावण द्वारा व्याख्यात मन्त्रों पर अन्य भी अनेकों भाष्यकारों ने लेखनी उठाई है। कतिपय रावणीय मन्त्रों के प्राचीन वैदिक और अन्य साहित्य में भी अर्थ, भाव या भाष्य मिलते हैं। रावण के यथार्थ महत्त्व, उस की देन और वेदभाष्यकारों में उस के स्थान के निर्णय के लिए इन सब भाष्यों से रावण के भाष्य की तुलना अपेक्षित है।

२–रावणभाष्य और वैदिक साहित्यगत मंत्रव्याख्यान

शतपथब्राह्मण

१२. शतपथकार ने 'तद्विष्णोः'[२३] को यज्ञपरक मानते हुए इस में विष्णु की जीत के दर्शन का वर्णन माना है। इन के मत में यूप का स्थापन वज्र का प्रहार है, जिस से विष्णु के परम पद अर्थात् जीत की प्राप्ति होती है।[२४] एग्गिलग शतपथकार के इस भाव की पृष्ठभूमि में मन्त्र का अनुवाद नहीं करते हैं। वे मन्त्र का सामान्य प्रचलित अर्थ ही प्रस्तुत करते हैं। रावण[२५] शतपथकार की दृष्टि को यज्ञपरक से बदल कर राजयोगपरक कर परम पद का भाव 'विष्णु का अभिव्यक्ति स्थान' मानते हैं।

१३. 'नासदासीन्नो सदासीत्'[२६] के व्याख्यान में शतपथकार मानते हैं कि सृष्टि के पहले (प्रलयकाल में) केवल एक मात्र मन था। मन न सत् है न असत्। इस मन को इच्छा सृजन की हुई। अतः इस ने अपने को अधिक निरुक्त और मूर्त करना चाहा, और क्रम से सृजन हुआ, लोक के सब कार्यकलाप मन से ही चलते हैं।[२७] रावण[२८] इस न सत् और न असत् को इन दोनों से विलक्षण अनिर्वाच्य तत्त्व परमात्मा मानते हैं। वस्तुतः शतपथकार का मन और रावण का आत्मा एक ही हैं। शतपथकार ने 'न सत् और न असत्' रूप कह कर मन को उभयविलक्षण और निर्वाच्य माना है।

---

२३. ऋ. १। २२। २०
२४. श० ३। ७। १। १८
२५. राभा०, पृ० १; १७.
२६. ऋ० १। १२९। १
२७. श० १०। ५। ३। १ – ३। एग्गिलग का अनुवाद भी देखें।
२८. राभा०, पृ० ११; २५

ऐतरेय ब्राह्मण

१४. ऐतरेयब्राह्मणकार ने 'सर्वे नन्दन्ति यशसा'[२९] मन्त्र का विनियोग क्रीत सोम के अनुब्रवण में करते हुए इस का अर्थ "खरीद कर लाए हुए राजा सोम से यज्ञगत सभी जन आनन्दित होते हैं" किया है।[३०] रावण[३१] यशस् का अर्थ परमात्मा करते हैं, जिस को प्राप्त कर सभी आनन्दित हो जाते हैं।

कृष्ण यजुर्वेदीय साहित्य

१५. 'तद्विष्णोः परमं पदम्'[३२] का विनियोग काठकसंहिता[३३] ने यूप को ऊपर की ओर से देखने (उदीक्षण) में किया है, क्यों कि यूप वैष्णव है। अतः विष्णु की—यूप की अपनी ऋचा से यूप को देखा जाता है। इस लिए काठकसंहिता के मत में इस का अर्थ है—'ऋत्विज् और यजमान आदि आकाश में ऊपर को उठे हुए यूप के उच्चतम भाग को देखते हैं'। रावण[३४] विष्णु को परमात्मापरक लेते हैं, और उस के साक्षात्कार का वर्णन उद्भावित करते हैं।

१६. तैत्तिरीय संहिता ने इस मंत्र के दो विनियोग दिए हैं—यूपस्थापन में[३५] और स्वयमातृण्णाद्युपधान में[३६]। आपस्तम्ब[३७] ने इसे 'विष्णोः कर्माणि पश्यत'[३८] से समुन्मार्जन के बाद (यूप के) आगे देखने में और कात्यायन ने चषाल को देखते हुए पाठ करने

---

२९. ऋ० १०।७१।१०. ३०. ऐ० १।१३
३१. राभा०, पृ० ६; २१. ३२. ऋ०१।२२।२० ३३. कासं २६।५
३४. राभा., पृ० १;१७. ३५. तैसं० १।३।६।२ ३६. वही, ४।२।९।३
३७. आपश्रौसू. ७।११।४. १६।२६।४ का पाठ इस समय लेखक को उपलब्ध नहीं है। ३८. ऋ० १।२२।१९

में किया है। मैत्रायणीसंहिता ने इस मन्त्र का विनियोग यूप के समुन्मार्जन में स्वर्गलोक की समष्टि के निमित्त किया है। मानव-श्रौतसूत्र के अनुसार इस मन्त्र से यूप को ऊपर की ओर तीन बटों वाली (रस्सी) और स्वरू (यूपशकल, से तीन बार प्रहार करता है—छूता है।[४१]

१७. इन विनियोगों का भाव काठकसंहिता के विनियोग से मिलता-जुलता अल्प भेद वाला निकलता है।

१८. चतुष्कपर्दा[४२] का काठकसंहिता का अधोदत्त पाठ प्रकृत मन्त्र के एक अंश का अर्थ मालूम पड़ता है—

चतुश्शिखण्डा युवतिस्सुपत्नी विनीयमाना महते सौभगाय ॥
घृतं दुहानादितिर्जनाय सा मे धुक्ष्व सर्वान् भूतिकामान् ॥[४३]

यहां काठकसंहिता कपर्द का 'शिखण्ड', सुपेशा (सुन्दर रूप वाली) का 'महान् सौभाग्य के लिए गृहीत उत्तम पत्नी=रक्षा करने वाली', घृतप्रतीका का 'जनमात्र के लिए घी को दोहने वाली अदिति—अदीन और अखण्ड' तथा वयुनानि वस्ते का 'वह मेरे लिए सब ऐश्वर्य की कामनाओं का दोहन करे' अर्थ प्रस्तुत कर रही है।

१९. इस अर्थ में ऋग्वेदीय मन्त्र के पूर्वार्द्ध का ही भाव आता है—चार जूड़ों [कोणों] वाली, महान् सौभाग्य के लिए गृहीत उत्तम रक्षा करने वाली, जनमात्र के लिए (वर्षारूप/कामना-पूर्तिरूप) घी को दोहन करने वाली अदीन और अखण्ड युवति

---

३९. काश्रौसू. ६।३।१२ ४०. मैसं०—३।९।४
४१. माश्रौसू० १।८।२।२४ और उस का ज. म. वान गैल्डर का अंग्रेजी अनुवाद। ४२. ऋ १०।११४।३ ४३. कासं. ३१।१४

मानवों के लिए सब ऐश्वर्य की कामनाओं का दोहन करे। रावण-भाष्य के मत में यहां पूर्वार्द्ध में माया का वर्णन है।

२०. हो सकता है कि मन्त्र के उत्तरार्द्ध का भाव अगले मन्त्र 'वेदेन वेदिं विविदुः'[४४] में हो और सुपर्णा का भाव वेदि और गर्भ हों–विस्तृत पृथिवी पर वेद द्वारा पृथिवीस्थ वेदि को जानते हैं। वह (पृथिवी ?) भुवनों में गर्भ धारण करती है, उस से सर्वपोषक यज्ञ होता रहता है। रावण सुपर्णा का अर्थ जीव और ईश्वर करते हैं।

२१. इस मन्त्र के तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रदत्त चार विनियोगों में तीन पाठ मिलते हैं—

१. चतुःशिखण्डा युवतिः सुपेशाः। घृतप्रतीका भुवनस्य मध्ये। मर्मृज्यमाना महते सौभगाय। मह्यं धुक्ष्व यजमानाय कामान् ॥[४५]

२. चतुःशिखण्डा युवतिः सुपेशाः। घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते। सा स्तीर्यमाणा महते सौभगाय। सा मे धुक्ष्व यजमानाय कामान् ॥[४६]

३. चतुःशिखण्डा, युवतिः सुपेशाः। घृतप्रतीका भुवनस्य मध्ये। तस्यां सुपर्णावधि यौ निविष्टौ। तयोर्देवानामधि भाग-धेयम् ॥[४७]

२२. आपस्तम्ब ने पहले और दूसरे पाठों को क्रमशः संमृज्य-मान वेदि के अनुमन्त्रण[४८] और बर्हि से आस्तीर्यमाण वेदि के

४४. वही, ३।१४ ४५. तै० १।२।१।२७; ३।७।६।४

४६. तै० ३।७।६।५–६ ४७. तै० ३।७।७।१४

४८. आपश्रौसू० ४।५।१

अनुमन्त्रण[४९] में विनियुक्त किया है। सायण के मत में यह मन्त्र दर्शपूर्णमास का अंग है।[५०] सायण आपस्तम्बीय विनियोगों को ही अपने भाष्य में ग्रहण करते हैं। उस ने ऊपर दिए गए तीसरे पाठ का विनियोग वेदि के अभिमन्त्रण में बताया है।[५१] अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण और आपस्तम्ब श्रौतसूत्र इस मन्त्र को यज्ञवेदि-परक लगाते है।

२३. रावण का इन पाठ भेदों से कोई सम्बन्ध न था। अतः उस ने इन का न कोई व्याख्यान किया है, न इन पर कोई ध्यान दिया है। उस की दृष्टि भी याज्ञिक नहीं है। उपर्युक्त पाठों और उन के विनियोगों को प्रदर्शित करते हुए ऋषियों ने कोई स्पष्ट अर्थ प्रस्तुत भी नहीं किया है। रावण[५२] ने ऋग्वेदीय मन्त्र के व्याख्यान में माया के चार उत्कर्षों और उस में सत् और असत् फल के वर्षक दो शोभन पतन वाले जीव और ईश्वर की स्थिति का वर्णन माना है। वैदिक साहित्य माया के शांकर रूप से परि-चित नहीं है।

२४. 'न मृत्युरासीदमृतम्'[५३] के पूर्वार्द्ध के तैत्तिरीय ब्राह्मण के पाठ[५४] में अल्पमा भेद है—न मृत्युरमृतं तर्हि न। रात्रिया अह्न आसीत्प्रकेतः। सायण ने लिखा है कि सूत्रकार (आपस्तम्ब) ने इस का और नासदासीत्[५५] का विनियोग जलों से पशुओं के वेहतकर्म में जलद्रव से उपहोम में किया है। इस उप-होम में नासदीय सूक्त के सभी मन्त्रों और अन्य कतिपय सृष्टि-

---

४९. वही, ४ । ६ । २ ५०. तै० १ । २ । १ । २७ का साभा.
५१. तै० ३ । ७ । ७ । १४ साभा. ५२. राभा०, पृ० ९; २३.
५३. ऋ० १० । १२९ । २ ५४. तै० २ । ८ । ९ । ४
५५. ऋ० १० । १२९ । १

विषयक मन्त्रों का विनियोग किया गया है स का कारण यह प्रतीत होता है कि अप्रकेत सलिल—जल से समस्त भूतजात की रचना होने से जलद्रव से उपहोम उस सृष्टिप्रक्रिया का प्रतीक है, अतः सृष्टिरचनाविषयक मन्त्रों से आहुति अभीष्ट है।

२५. ब्राह्मणकार ने इन मन्त्रों का कोई भाष्य या अर्थविषयक संकेत नहीं दिया है। रावण[५६] भी इन मन्त्रों को सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बद्ध करते हैं। परन्तु उस ने इन का कोई याज्ञिक विनियोग नहीं दिया है।

ऐतरेयारण्यक

२६. 'यस्तित्याज सचिविदं सखायम्'[५७] मन्त्र को ऐतरेयारण्यककार[५८] आत्मोपासना की महिमा के प्रतिपादन में प्रस्तुत करते हैं। शरीर, छन्दः, वेद और महापुरुषों के सार रूप प्रज्ञा, अ, ब्रह्मा और आदित्य में प्रज्ञा और आदित्य=परमात्मा के चिन्तन द्वारा ऐक्य लक्ष्य है। [छन्दः और वेदपुरुषों के सारों का अन्तर्भाव प्रज्ञा में हो जाता है]। प्रज्ञा में परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए। इसी को ऋग्वेदी महदुक्थ में, अध्वर्यु (=यजुर्वेदी) अग्नि (=यज्ञ) में, सामवेदी महाव्रत मे, इसी को द्युलोक, वायु, आकाश, जलों, ओषधियों, वनस्पतियों, चन्द्रमा, नक्षत्रों और सब भूतो में ब्रह्मा कहते हैं। यह आत्मा सवत्सरसंमान (=कालरूप=आदित्य-रूप), चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, छन्दोमय, मनोमय और वाङ्मय है। इस का अनुभव अपने में ही करना चाहिए। जो इस की अपने में उपासना न कर के दूसरों को ही उपदेश देता है, उस के लिए वेदज्ञान निरर्थक हो जाता है। उस के प्रवचन में

५६. राभा०, पृ० १३; २७.
५७. ऋ १०।७१।६
५८. ऐआ ३।२।३–४.

उस को स्वयं को कोई भाग नहीं मिलता है, वह सुकर्म के मार्ग को नहीं जानता है। अतः वैदिक कर्मों और उपासना का लक्ष्य अपने को ही बनाए। रावण[५९] इस में परमात्मा को छोड़ देने पर मनुष्य के पाठों और शास्त्रश्रवण की निष्फलता का और सत्य ब्रह्म के मार्ग के अज्ञान का वर्णन मानते हैं। वस्तुतः रावण और आरण्यक दोनों का एक ही लक्ष्य और भाव है। दोनों आत्म-चिन्तन और आत्मानुभूति की महिमा पर बल देते हैं। केवल शब्दों और शैली का भेद है।

२७. ऐतरेयारण्यक[६०] ने 'एकः सुपर्णः स समुद्रम्'[६१] मन्त्र का भाव स्पष्ट करते हुए तीन मत प्रस्तुत किए हैं और इस में वाक् और प्राण की संहिता का वर्णन माना है। तार्क्ष्य वाक् को रथन्तर साम का और प्राण को बृहत् साम का रूप मानते हैं। ऋग्वेद के अनुसार वसिष्ठ [=प्राण] ने रथन्तर [साम=वाक्] का आहरण किया और भरद्वाज [= वाक्] ने अग्नि में से बृहत् [साम=प्राण] का ग्रहण किया।[६२] तार्क्ष्य के मत में बृहद् और रथन्तर की— प्राण और वाक् की संहिता होती है। कौण्ठरव्य वाक् की प्राण से संहिता मानते हैं और पञ्चालचण्ड वाक् की ही संहिता मानते हैं। वाणी से ही वेद, छन्द, मित्र और प्राणियों का संधान–मेल–सम्पर्क होता है। पढ़ने और बोलने में प्राण वाणी में स्थित होता है, तब वाक् प्राण को आत्मसात् कर लेती है, और जब मनुष्य चुप होता है या सोता है, तब वाक् प्राण में स्थित होती है, और प्राण वाक् को आत्मसात् कर लेता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे को आत्मसात् कर लेते हैं। वाक् को ही माता और प्राण को

---

५९. रामा०, पृ०, ३; १९ ६०. ऐआ. ३ । १ । ६
६१. ऋ. १० । ११४ । ४ ६२. ऋ. १० । १८२ । १–२

पुत्र कहा है। यही 'एकः सुपर्णः'[६३] मन्त्र का भाव है। अतः आरण्यककार यहां सुपर्ण को प्राण का और समुद्र को वाक् का द्योतक मानते हैं। रावण[६४] ऐसा न मान कर इन्हें आत्मा और तिरोधानकारी प्रपञ्च-माया का वाचक मान कर इस मन्त्र में दोनों के तादात्म्य का वर्णन मानते हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक

२८. 'यस्तित्याज सखिविदं'[६५] का तैत्तिरीय आरण्यककार ने भावमात्र प्रस्तुत किया है। इस भाव में वे सचि-(सखि-) विद् सखा का अर्थ स्वाध्याय, देवपवित्र मानते हैं। सृष्टि के आदि में उत्पन्न अग्नि के आगंतुक पाप को देव आहुतियों से. आहुतियों के पाप को यज्ञ से, यज्ञ के पाप को दक्षिणा से, दक्षिणाओं के पापों को ब्राह्मण से, ब्राह्मण के पाप को छन्दों से और छन्दों के पाप को स्वाध्याय से दूर करते हैं। इस का त्यागी नाक=स्वर्ग के सुख से वञ्चित हो जाता है। अतः सुकृतस्य पन्थाः स्वर्ग का सुख है, उसे स्वाध्यायहीन जन नहीं जानता है। रावण[६७] ने सखा का अर्थ परमात्मा लिया है। उस का त्यागी, बहिर्मुखी जन यथार्थ तत्त्व को न जान कर सत्य ब्रह्म के ज्ञान से वञ्चित रह जाता है।

उपनिषदें

२९. उपनिषदों में रावण द्वारा व्याख्यात तीन मन्त्रों[६८] का पाठ आया है। स्कन्दोपनिषद् ने विष्णु के परम पद[६९] का अर्थ

---

६३. ऋ. १० । ११४ । ४ ६४. राभा०, पृ० १०; २४.

६५. ऋ. १० । ७१ । ६ ६६. तैआ० २ । १५

६७. राभा०, पृ० ३; १९.

६८. ऋ० १ । २२ । २०–२१; १६४ । २०

६९. ऋ० १ । २२ । २०–२१

'निर्वाण और वेद का अनुशासन' किया है।[७०] इस उपनिषद् में विष्णु का शिव और ब्रह्मा से तादात्म्य कर उसे अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, अव्यय और वेदात्मक ब्रह्म कहा है[७१]। अज्ञान-निर्माल्य का त्याग कर सो ऽहं भाव से पूजा करते हुए अभेद का दर्शन किया जाए।[७२]

३०. आरुणिकोपनिषद् ने भी विष्णु के परम पद का भाव निर्वाण और वेद का अनुशासन लिया है।[७३] इस की सिद्धि सांसारिक सुखादि के उपकरणों का त्याग कर सन्यासी का जीवन और व्रत आदि धारण कर 'ॐ हि' इस उपनिषत् के धारण से बताई है।[७४]

३१. मुक्तिकोपनिषद् के मत में विष्णु के परम पद का दर्शन वासना के क्षय और शुभ मार्ग से सच्चित् सुखात्मक चिन्मात्र-विग्रह राम में स्थित हो कर जीवन्मुक्त होना और देह के नाश होने पर देहहीन मुक्ति (—अदेहमुक्तत्व को प्राप्त होना है।[७५]

३२. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत् के मत में[७६] समस्त दुःख आदि से पार ले जाने वाला, समस्त लोकों पर विजय दिलाने वाला, सब यज्ञों की पूर्णता, शास्त्र आदि के अध्ययन का प्रापक, सब से श्रेष्ठ, सूर्य चन्द्र आदि ज्योतियों, अग्नि,मृत्यु और दुःख की पहुँच से बाहर, सदानन्द, परमानन्द, शान्त, शाश्वत, सदाशिव, ब्रह्मा आदि से वन्दित और योगियों से ध्यातव्य मोक्षद्वार महा-चक्र आनुष्टुभ मन्त्रराज नारसिंह का नित्य अध्ययन ही विष्णु का परम पद और उस का दर्शन है।

---

७०. स्कन्द उप० १५ ७१. वही, १३
७२. वही, १०–११ ७३. आरुणिकोप० ५
७४. वही, १–५. ७५. मुक्तिकोप० १; ३; ४; १८; ७६; ७७
७६. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ५। १–१०

३३. गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत् के मत में[७७] विष्णु वृन्दावनवासी कृष्ण ही है। कृष्ण का अवभासक पञ्चव्याहृतिमय मन्त्र कैवल्यदायक है। विष्णु का पद विशुद्ध, विमल, शोक-लोभादि से रहित है। यही वासुदेव है। यह अनुभव ही विष्णु के परम पद की प्राप्ति है।

३४. इन उपनिषदों में मायावाद की छाप कहीं-कहीं मिलती है। यद्यपि रावण भी मायावाद के प्रभाव से ग्रस्त हैं, और तद्विष्णोः और तद्विप्रासः[७८] मन्त्रों को परमात्मपरक लगाते हैं,[७९] परन्तु उन में शिव, ब्रह्मा,, विष्णु, राम, कृष्ण और नृसिंह आदि पौराणिक देवकल्पना का प्रभाव लक्षित नहीं हो रहा है।

३५. 'द्वा सुपर्णा सयुजा'[८०] को मुण्डक उपनिषत् ने ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन तत्त्वों के सम्बन्ध का प्रतिपादक माना है। पुरुष और जीव दोनों एक ही (प्रकृति रूप) वृक्ष पर आश्रित हैं। जीव में सामर्थ्य–प्रभुत्व नहीं है। अतः वह वृक्ष में–प्रकृति में मग्न हुआ मोह में पड़ा हुआ दुःख मनाता है। जब वह शोकहीन (अपनी) महिमा से सेवित दूसरे ईश को देखता है, तब परम साम्य को प्राप्त हो जाता है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
तदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥"[८१]

---

७७. गोपालपूर्वतापिन्युप० १–१३ ७८. ऋ० १। २२। २०; २१
७९. राभा., पृ० १–२; १७–१८ ८०. ऋ० १। १६४। २०
८१. मुउप० ३। १। १–३

३६. उपनिषत्कार यहाँ जीव और परमात्मा के ऐक्य को इंगित करते मालूम होते हैं। यद्यपि उपनिषद् ने मायावाद का स्पष्ट कोई उल्लेख नहीं किया है, तथापि निरञ्जन पद में मायावाद का संकेत निहित माना जा सकता है।

३७. रावण भी इस मन्त्र में मायावाद की दृष्टि से जीव और परमात्मा के तादात्म्य का प्रतिपादन करते हैं।[८२]

३८. वासुदेवोपनिषत्[८३] के मत में 'तद्विष्णोः परमं पदम्' और 'तद्विप्रासो विपन्यवः' मन्त्रों[८४] का भाव यह है कि जो विहित मन्त्रों और प्रणव से अग्निहोत्र की भस्म से उद्धूलन (भस्म को शरीर पर मालिश) करता है, गोपीचन्दन का तिलक लगाता है, या इस को पढ़ता है, वह सब महापतकों से छूट जाता है, पापबुद्धि से रहित हो जाता है, सब तीर्थों में स्नान किया हुआ हो जाता है, सब यज्ञों को सम्पन्न कर चुकने वाला, सब देवों का पूज्य, नारायण में बढ़ी हुई अचल भक्ति वाला और सम्यग् ज्ञान प्राप्त कर विष्णु के सायुज्य को प्राप्त कर लेता है, और वहाँ से फिर नहीं लौटता है।

३९. रावण[८५] ने इस प्रकार का न कोई विनियोग दिया है, न कोई सरल मार्ग निकाला है। वह यहाँ योग द्वारा विष्णु के साक्षात्कार और व्यवहार-दशा में उस की सब विषयों में प्रतीति का वर्णन मानते हैं। विष्णु भी व्यापक परमात्मा है, जिस का परम पद अभिव्यक्ति-स्थान भौंहों के बीच में हैं।

---

८२. राभा०, पृ० २; १८.
८३. वासुदेवोपनिषद् ४।
८४. ऋ० १ । २२ । २०–२१
८५. राभा०, पृ० १–२; १७–१८.

आश्वलायन श्रौतसूत्र

४० आश्वलायन[८६] ने विधान किया है कि 'सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन'[८७] का पाठ क्रयण से पूर्व सोम को लाते हुए मार्ग में पढ़ा जाए। उस ने इस का और कोई व्याख्यान प्रस्तुत नहीं किया है। अतः आश्वलायन के मत में आगत सखा यशस् सोम है। इस सोम का स्थूल रूप सोमक्रयण में प्रयुक्त होता है। सूत्रकार ने उस को प्रतीक या सूक्ष्म अन्तर्हित अर्थ की ओर संकेत नहीं किया है। रावण इस आगत सखा यशस् को परमात्मा मानते हैं।[८८]

४१. 'किस्विदधिष्ठानम्'[८९] का विनियोग आश्वलायन[९०] ने निरूढ पशुबन्ध याग में प्राजापत्य पशु के प्रदान को अनुवाक्याओं में किया है। अतः यहां किम्, कतमत् और कथा का अर्थ प्रजापति अभीष्ट है। रावण[९१] यहां सृष्टि की इच्छा होने पर सृष्टि से पहले की स्थिति का वर्णन मानते हैं।

४२. आश्वलायन ने इस का कोई व्याख्यान नहीं दिया है। यज्ञ सृष्टिप्रक्रिया के प्रतीक हैं, इस मान्यता के अनुरूप इस मन्त्र का विनियोगानुसारी विषय भी प्रजापति—तदेक का दर्शन–सृष्टि की इच्छा के समय स्थिति का पर्यवेक्षण ठैरता है। पशु का अर्थ 'जो देखा जाता है, या देखता है' है।[९२]

---

८६. आश्रौसू० ४।४।४

८७. ऋ० १०।७१।१०

८८. राभा०, पृ० ६; २१

८९. ऋ० १०।८१।२

९०. आश्रौसू० ३।८।

९१. राभा., पृ० ७; २२.

९२. तु० क० 'एतान् पञ्च पशूनपश्यत् पुरुषमश्वं गामविमजम्। यदपश्यत् तस्मादेते पशवः।' श० ६।२।१।२। कण्डिका ४ भी देखें।

पदकार शाकल्य

४३. शाकल्य का पदपाठ लगभग समस्त ऋग्वेद पर मिलता है। रावण का कोई पदपाठ इस समय उपलब्ध नहीं है। रावण के मन्त्रों के व्याख्यान की दृष्टि में उन को अभीष्ट पदच्छेद की ऊहा की जा सकती है। यह ऊहा परिशिष्ट १ में प्रस्तुत की गई है।

४४. शाकल्य के पदपाठ और रावण के ऊहित पदच्छेद की तुलना से दोनों की दृष्टि में भेद को अनायास ही अनुभव किया जा सकता है। इन दोनों के पदच्छेदों में अनेकशः भेद मिलता है। यह भेद अनेक धाराओं में लक्षित होता है।

४५. शाकल्य 'तद्विष्णोः'[१३] मन्त्र में 'इव' को 'दिवि' से अवगृहीत कर उसे 'दिवि' से सम्बद्ध करते हैं। रावण इन दोनों पदों को स्वतन्त्र मानते हैं और 'इव' को 'आततम्' से जोड़ते हैं।[१४]

४६. 'यस्तित्याज' मन्त्र में शाकल्य 'यत्' को निपात मान कर तृतीय पाद को गौण वाक्य मानते हैं। रावण 'यत्' को कर्म मानते हैं। अतः यहाँ 'प्र वेद' का प्रधान वाक्य से सम्बन्ध होने से 'प्र' और 'वेद' स्वतन्त्र : द अभिप्रेत हैं[१५]। शाकल्य के मत में दोनों के बीच अवग्रह लगेगा।

४७. 'हृदा तष्टेषु' में 'संयजन्ते' को शाकल्य गौण वाक्य की क्रिया मानते हैं, रावण 'सम्' को क्रिया-विशेषण मान कर 'यजन्ते' से पृथक् रखते हैं।[१८]

---

१३. ऋ० १।२२।२०
१४. रामा., पृ० १;१४.
१५. ऋ० १०।७१।६
१६. रामा०, पृ० ३; १५
१७. ऋ० १०।७१।८
१८. रामा०, पृ० ४;१५.

४८. कुछ पदों में अवग्रह का प्रयोग शाकल्य से भिन्न है। शाकल्य द्वारा अनवगृहीत पदों को रावण ने कहीं अवगृहीत और कहीं पृथक्-पृथक् लिया है।

४९. शाकल्य 'सखाया',[९९] 'समुद्रम्'[१००] और 'स्वधा'[१०१] में अवग्रह नहीं देते हैं। रावण ने सखाया का 'समानख्यानौ',[१०२] समुद्रम् का 'समुन्दयति तिरोधत्ते एवंविधं प्रपञ्चम्'[१०३] और स्वधा का 'स्वस्मिन् ध्रियते कल्प्यते सा स्वधा'[१०४] अर्थ और व्युत्पत्ति कर इन पदों को सऽखाया, सम् ऽ उद्रम् और स्वऽधा रूप में अवगृहीत माना है[१०५]।

५०. शाकल्य 'नहि'[१०६] को एक पद, और 'कुहकस्य'[१०७] को दो पद मानते हैं। रावण नहि' को दो पद[१०८] और 'कुहकस्य' को एक पद[१०९] मानते हैं। रावण शाकल्य के 'सुऽपेशाः'[११०] को 'सुऽपेशा' लेते हैं।[१] शाकल्य 'आवरीवः'[११२] को क्रियापद लेते हैं, रावण संज्ञापद मानते हैं।[११३]

५१. अतः रावण सामान्यतः शाकल्य के पदानुयायी हैं। शाकल्य का कोई ऋग्वेदभाष्य उपलब्ध न होने से यह जानना सम्भव नहीं कि उन्हें याज्ञिक व्याख्यान अभीष्ट हैं अथवा आध्या-

९९. ऋ० १।१६४।२०
१००. ऋ० १०।११४।४
१०१. ऋ० १०।१२९।२
१०२. राभा०, पृ० ३
१०३. वही, पृ० १०
१०४. वही, पृ० १३
१०५. राभा, परिशिष्ट १ और ९.
१०६. ऋ० १०।७१।६
१०७. ऋ० १०।१२९।१
१०८. राभा, पृ० ४
१०९. वही, पृ० १२
११०. ऋ० १०।११४।३
१११. राभा., पृ० ९
११२. ऋ० १०।१२९।१
११३. राभा., पृ० १२

त्मिक। रावण की दृष्टि आध्यात्मिक और मायावाद से प्रभावित है। इस की पृष्ठभूमि पर अपने व्याख्यानों को प्रस्तुत करते हुए उस ने शाकल्य से मतभेद रखने में कोई आपत्ति नहीं समझी है। यास्क आदि रावण के पूर्ववर्ती भाष्यकार इस मतभेद का मार्ग उसे पहले ही दिखा चुके थे।

यास्क

५२ यास्क ने 'द्वा सुपर्णा'[११४] मन्त्र के भाष्य में द्वैत का प्रतिपादन किया है—दो प्रतिष्ठित सुकृत धर्म-कर्म करने वाले सुपर्ण सयुज्, सखाभूत आत्मा (-दुरात्मा) और परमात्मा की उपासना करता है। वह (उपासनाकर्म) शरीर में ही होता है। वृक्ष—ऋक्ष शरीर (को कहते हैं)। वृक्ष पर ही (दुरात्मा और परमात्मा रूप दोनों) पक्षों को बिठाता है। उन में से एक भोग कर के (तथा) दूसरा न खाता हुआ एक दूसरे ही (विलक्षण) रूप साम्य और स्थानैक्य को प्राप्त करता है। जो इस प्रकार जानता है कि दूसरा बिना खाए देखता रहता है, वह आत्मगति को जानता है।[११५]

---

११४. ऋ. १। १६४। २०

११५. नि० १४। ३०। इस अंश का अनुवाद एक समस्या बना हुआ है। दुर्ग, चन्द्रमणि, लक्ष्मण स्वरूप आदि ने इसे अव्याख्यात छोड़ दिया है। छज्जूराम भगीरथ शास्त्री देव शर्मा और भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर के व्याख्यान अस्पष्ट हैं। ब्रह्ममुनि का व्याख्यान पर्याप्त सीमा तक स्पष्ट है। यास्कीय व्याख्यान में पहले द्वौ, धर्मकर्तारौ, प्रत्युत्तिष्ठति, जायते. शरीरम्, प्रतिष्ठापयति, अश्नुते और फिर आचष्टे के बाद विराम अपेक्षित है, अन्यत्र नहीं। पहला द्वौ द्वा का लौकिक रूप है, दूसरा द्वौ सुपर्णा के द्विवचन का अनुवादक

५३. रावण ने इस मन्त्र को मायावाद और अद्वैतपरक लगाया है,[११६] यास्क ने वृक्ष, दुरात्मा और परमात्मा—इन तीन तत्त्वों का वर्णन मान कर त्रैतवाद की उद्‌भावना की है।

५४. 'हृदा तष्टेषु'[११७] में यास्क ब्राह्मण का लक्षण, ब्रह्म को जानने के प्रकार और ब्रह्मज्ञानाधिकारी का वर्णन मानते हैं–मनन-युक्त (जव—) मन्त्रार्थों में जब समान प्रवृत्ति वाले ऋत्विज् पर-पर में मिलते हैं, तब इस कर्म में जानने योग्य प्रवृत्तियों से एक (अपात्र जन) को (वे) त्याग देते हैं। ब्रह्म (वेदार्थज्ञान) की ऊहा करने वाले दूसरे अन्य ब्राह्मण (ही) इस (संगम में) भाग लेते हैं। यह ब्रह्मज्ञान श्रवण, मनन और निदिध्यासन से होता है। अतः तप द्वारा इस ज्ञान के पार जाने की कामना करनी चाहिए। इस ब्रह्म के ज्ञान को आयु का इच्छुक (अपात्र को) न बताए। अतः मन्त्रों की शिक्षा में अवशिष्ट अपात्रों को बाह्य कर दे। शास्त्र का भी यही कहना है—जिस-जिस देवता=मन्त्र का निर्वचन करे, उस-उस (देवता=मन्त्र) के भाव का मनन (ताद्‌भाव्यम्) और निदिध्यासन (अनुभवति) करे।[११८]

है। प्रतिष्ठितो आगे प्रयुक्त प्रतिष्ठापयति का अनुवाद है। परिसारक सुपर्ण का वाचक है—परि + √सृ से। दुष्कृत–पाप परिसारण का कर्म है। दुरात्मानम् आत्मानम् को विशेषित कर परमात्मा से भिन्न करता है। तत् पूर्वप्रयुक्त प्रत्युत्तिष्ठति के कर्म का सूचक है। वृक्ष और ऋक्ष एक हैं, व् आदि में अक्षरागम है। ऋक्ष √ऋच्, √ऋज् या √ऋष् का रूप है और गति, मूर्तिभाव आदि अर्थों का द्योतक है। विद्वान् 'जानता है' क्रिया का वाचक है।

११६. राभा०, पृ० २–३; १८ १९

११७. ऋ० १० । ७१ । ८। केवल ब्रह्ममुनि का अर्थ ही यास्कीय भाव को कुछ स्पष्ट करने में सहायक है। ११८. नि० १३ । १३

५५. रावण[११९] ने इस मन्त्र में जीवात्मा द्वारा तू और मैं के भेद को अन्तर्याग द्वारा मिटा कर, ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर, अखण्ड एकरस रूप में व्यवहार का विधान माना है। यास्क इसे मन्त्रों के ज्ञान के प्राप्त करने के प्रकार में संगत करते हैं। इस मन्त्र के भाष्य से पूर्व यही प्रकरण चल रहा है।

५६. 'एकः सुपर्णः' [१२०] में यास्क ने दृष्टार्थ ऋषि का प्रीतिजन्य आख्यानमय वस्तुवर्णन माना है-'मैं ने पाक (=परिपक्व?) मन से समीप में ही उस एक सुपर्ण को देख लिया है, जो समुद्र में प्रविष्ट होता है। वह इन सब प्राणियों को देखता है। माध्यमिका वाक् उस पर आश्रित है, और वह मध्यमा वाक् का आश्रय लेता है'।[१२१]

५७. यास्क ने यहाँ सुपर्ण को जीवात्मा परक लगाया है। रावण[१२२] ब्रह्मपरक लगाते हैं। यह ब्रह्म तिरोधान करने वाले प्रपञ्च में रहता है; उसे जानता है। रावण 'माता' को माया का, 'भुवनम्' को स्थूल प्रपञ्च का वाचक मानते हैं। साधक अन्दर ही अन्दर परिपाक से बुद्धि द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। वस्तुतः यास्क की अद्वैतवाद और मायावाद में कोई प्रवृत्ति नहीं है, उधर रावण का द्वैत और जीव की पृथक् सत्ता में कोई अभिनिवेश नहीं है। यास्क ने समुद्र का यहाँ कोई व्याख्यान नहीं दिया है, न सुपर्ण का। दुर्ग के समान ब्रह्ममुनि समुद्र को अन्तरिक्षपरक और सुपर्ण को म यमस्थानोय वायु समझते हैं। इस वायु के साथ

---

११९. राभा०, पृ० ४–५; २०

१२०. ऋ० १० । ११४ । ४

१२१ . नि० १ । १० । ४६

१२२. राभा० पृ० १०–११ ; २४-२५.

ही जीवात्मा शरीर में प्रवेश करता है और रहता है। चन्द्रमणि सुपर्ण को प्राण मानते हैं। रावण इन योजनाओं को व्यक्त नहीं कर रहे हैं।

महाभारत

५८. महाभारत में भी अनेकों वेदमन्त्रों की प्रतीकें, या पाठ दे कर उन का भावानुवाद दिया गया है। कई बार केवल भावानुवाद मिलता है, मन्त्रप्रतीक या मन्त्रपाठ नहीं दिया गया है। नासदीय सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों 'नासदासीत्', न मृत्युरासीद्' और 'तम आसीत्' के पर्याप्त भाग का भावानुवाद मिलता है। महाभारतकार के अनुसार प्रलय के पश्चात् परमसत्ता से सृष्टि के वर्णन को पुराण कहते हैं।[१२३] चौथे युगसहस्र के अन्त में प्रक्षालन के काल के बीत जाने पर, चर और अचर के समस्त प्राणियों के अव्यक्त प्रलय (के काल के बीत जाने पर) लोक के प्रकाश, पृथिवी, और वायु से हीन घोर अन्धकार (रूप) एकमात्र जलमय हो जाने पर, अद्वितीय सब कुछ को वश में कर लेने वाले तमस् नामक (तत्त्व) के प्रतिष्ठित हो जाने पर, रात और दिन, सत् और असत्, व्यक्त और अव्यक्त की व्यवस्था न रहने पर इस अवस्था में नारायणगुणों के कोश, अक्षय, अजर, निरिन्द्रिय, अग्राह्य, अजन्मा, सत्य, अहिंस्र, ललाम[१२४], अनेक प्रवृत्तियों से विशिष्ट, अमर, मूर्तिहीन[१२५], सर्वव्यापी, सब कुछ के कर्त्ता, शाश्वत तमस् से अव्यय पुरुष हरि उत्पन्न हुआ। यही (वेद का) दर्शन भी है–न दिन था, न रात थी। न सत् था, न असत् था।

---

१२३. महा. (भ.) १२। ३२९। २

१२४. श्रेष्ठ (अर्जुनमिश्र का टीका)

१२५. कर्मेन्द्रियों के अगोचर (विद्यासागर की टीका)

पहले विश्वरूप (—अनेक रूपों का धारक ?) तमस् ही था। वह (स्थिति) (इस) विश्व की उत्पादक है, यह इस प्रकार इस का अर्थ कहा जाता है।—

"संप्रक्षालनकालेऽतिक्रान्ते चतुर्थे युगसहस्रान्ते,
अव्यक्ते सर्वभूतप्रलये स्थावरजङ्गमे,
ज्योतिर्धरणिवायुरहितेऽन्धे तमसि जलैकार्णवे लोके,
तम इत्येवाभिभूतेऽसंज्ञकेऽद्वितीये प्रतिष्ठिते,
नैव रात्र्यां न दिवसे न सति नासति न यक्ते नाव्यक्ते व्यवस्थिते, एतस्यामवस्थायां नारायणगुणाश्रयादक्षयादजरादनिन्द्रयादग्राह्यादसंभवात् सत्यादहिंस्राल्ललामाद् विविधप्रवृत्तिविशेषात्, अक्षयादजरामरादमूर्तितः सर्वव्यापिनः सर्वकर्तुः शाश्वतात् तमसः पुरुषः प्रादुर्भूतो हरिरव्ययः ॥३॥
निदर्शनमपि ह्यत्र भवति। नासीदहो न रात्रिरासीत्। न सदासीन्नासदासीत्। तम एव पुरस्तादभवद् विश्वरूपम्। सा विश्वस्य जननीत्येवमस्यार्थोऽनुभाष्य ॥४॥[126]

५६. इस में महाभारतकार ने तमस् का तदेक से तादात्म्य मान कर उस से ही अव्यक्त पुरुष हरि की उत्पत्ति मानी है। रावण ने 'तम आसीत्'[127] मन्त्र का व्याख्यान नहीं किया है। 'आनीदवातम्'[128] के भाष्य में वे महाभारतकार की व्याख्या को नहीं अपनाते हैं और एक अप्राण शुद्ध अनामगोत्र मायाशबलित सूत्रात्मा ब्रह्म की सत्ता मानते हैं।[129]

---

१२६. महा० (म०) १२। ३२९। ३-४
१२७. ऋ० १०। १२९। ३
१२८. वही, मं० २
१२९. रामा०, पृ० १३;२७

स्मृतियां

६०. लघुव्याससंहिता के मत में विष्णु का परमपद आदि, मध्य और अन्त से रहित, नित्य और हरि है। उस का नित्य आराधन करना चाहिए।[130] उस विमल तेज में आत्मा और मन को केन्द्रित कर आत्मनिवेदन करे। जल में मग्न हो कर इस मन्त्र का तीन बार जप करे।[131] विष्णु समुद्र में शयन करते हैं। सम्भवतः इसी दृष्टि से जल में मग्न हो कर उस का चिन्तन किया जाता है। इस चिन्तन-विधान में जल ही विष्णु के परम पद बनते हैं।

६१. बृहद्धारीतस्मृति ने इस मन्त्र[132] का विनियोग वाराह-पूजन में किया है।[133] पुराणों में वराह विष्णु के अवतार हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण वराह को प्रजापति का रूप मानता है।[134] यह प्रजापति पृथिवीपति है।[135] देवों ने जब अग्नि में घृतकुंभ का प्रवेश किया तब वराह उत्पन्न हुआ।[136] अग्नि सूर्य का रूप है, सूर्य प्रजापति भी है और प्राजापत्य भी है। विष्णु भी सूर्य का एक पक्ष है। सम्भवतः इसी दृष्टि से स्मृतिकारों ने यह पूजाविधान किया है।

६२. शंखस्मृति[137] ने विष्णु के परमपद[138] का वर्णन उपनिषदों की धारा में किया है। यह पद परम शुद्ध, गुह्य, उत्तम और अक्षर है। यह शब्द, रस, स्पर्श, रूप, गन्ध, दुःख और सुख से

१३०. लघुव्याससंहिता २। ४२–४४

१३१. वही, २। २१; विष्णुस्मृति ६४। २०

१३२. ऋ. १। २२। २०

१३३. बृहद्धारीतस्मृति, ८। २४४

१३४. तै. १। १। ३। ६

१३५. श० १४। १। २। ११

१३६. श० ५। ४। ३। १९

१३७. शंखस्मृति ७। २९–३१

१३८. ऋ० १। २२। २०—२१

हीन है। यह अज, निरञ्जन, शान्त, अव्यक्त, ध्रुव, अक्षीण, आदि और निधन से रहित ब्रह्म है। विज्ञान और मनोबन्धन से मनुष्य लक्ष्य पर पहुँच सकता है। रावण ने यद्यपि 'तद्विष्णोः' और 'तद्विप्रासः' को परमात्मा के साक्षात्कार में लगाया है, परन्तु विष्णु के पद का बहुत ही संक्षिप्त—'सत्य ज्ञान और आनन्द रूप'-वर्णन किया है।[१३९] शब्दों के अर्थ को परिधि में ज्यादा विस्तार सम्भव भी न था। उस के व्याख्यान में विष्णु के जल में शयन और वराह से सम्बन्ध का कोई संकेत नहीं है।

६३. वृद्ध हारीत स्मृति ने नासदासीद्[१४०] के दो विनियोग दिए हैं—१. विष्णु को देवियों के साथ सुला कर पुष्पाञ्जलि दान में[१४१] तथा २. आज्य की एक सहस्र आहुतियों के हवन में।[१४२]

६३ अ. मनुस्मृति[१४३] और पुराणों आदि के अनुसार एक हज़ार देवयुगों पर्यन्त ब्रह्मा की रात्रि होती है, जिस में विष्णु शयन करते हैं। इस शयनकाल में समस्त सृष्टि प्रलीन हो तमोरूप हो जाती है और उस की समस्त सृजक और पालक शक्तियां भी शान्त हो जाती हैं। प्रलयदशा के चित्रक 'नासदासीद्' मन्त्र के उपर्युक्त विनियोग इन्हीं तथ्यों के प्रतीक हैं। रावण के भाष्य में[१४४] ऐसे किसी विनियोग का संकेत नहीं है। वहां काल के मान का भी कोई निर्देश नहीं हैं।

---

१३९. रामा०, पृ० १;१७

१४०. ऋ. १० । १२९ । १

१४१. वृद्धहारीत स्मृति, ५ । २९४

१४२. वही, ५ । ४२४

१४३. म० १ । ७२; ७४

१४४. रामा., पृ० ११-१२;२५-२६.

ऋग्विधान

६४. ऋग्विधान ने रावण द्वारा व्याख्यात दो मन्त्रों[१४५] का विनियोग प्रदर्शित किया है। 'तद्विष्णोः'[१४६] मन्त्र का जलों में [मग्न हो कर] एक बार जप करने से सात जन्मों के पाप और अभक्ष्य के भक्षण के दोष से मुक्त हो जाता है—

"सप्तजन्मकृतं पापं कृत्वा चाभक्ष्यभक्षणम् ।
तद्विष्णोरित्यपां मध्ये सकृज्जप्त्वा विशुद्धयति" ॥[१४७]

खोण्डा ने 'सकृत्' का अर्थ' पूर्ण रूप से' किया है।[१४८] इस विधान के अनुसार विष्णु के परमपद का दर्शन पाप और दोषों से शुद्धि है। विष्णु यज्ञ है और पवित्रता का द्योतक है।[१४९] विष्णु यज्ञ के दोषों से बचाता है।[१५०] दिव् जलों का पर्याय है।[१५१] जल भी पवित्र,[१५२] अमृत अमृतत्व[१५३] और शान्ति[१५४] के पर्याय हैं। सूरयः का अर्थ प्रकरणानुसार 'पाप करने और दोष

१४५. ऋ. १ । २२ । २०; १० । १२९ । १

१४६. ऋ. १ । २२ । २०

१४७. ऋग्विधान, श्लोक ९१

१४८. वही जे. खोण्डा का अंग्रेजी अनुवाद, १ । १७ । ७, पृ० २३.

१४९. श. १ । १ । ३ । १ ।

१५०. ऐ० ३ । ३८; ७ । ५

१५१. श. ६ । ४ । १ । ९

१५२. श० १ । १ । १ । १; ३ । १ । २ । १०. ५ । ३ । ४ । १३ भी देखें ।

१५३. कौ० १२ । १;ऐ० ८ । २०; श १ । ९ । ३ । ७. वैको० पृ० ७० भी देखें।

१५४. ऐ० ७ । ५; तां० ८ । ७ । ८; श० १ । २ । ११ आदि।

से दुष्ट व्यक्ति' बनता है। परन्तु इन व्यक्तियों में पाप और दोषों से छुटकारा पाने की कामना और विवेक का रहना आवश्यक है।

६५. योगतत्पर हो कर 'नासदासीत्'[१५५] के जप और हवन से बारह वर्ष में प्रजापति से सायुज्य की प्राप्ति होती है—

"नासदासीदिति जपेज्जुहुयाद् योगतत्परः।
प्रजापतेस्तु सायुज्यं द्वादशाब्दैः समश्नुते ॥"[१५६]

खोण्डा ने इस श्लोक के पूर्वार्द्ध के इस से पहले श्लोक से और उत्तरार्द्ध को अगले श्लोक के पूर्वार्द्ध से मिला कर इस के रूप और अर्थ दोनों को विकृत कर दिया है।[१५७]

६६. प्रजापति तदेक ही है। नासदीय सूक्त तदेक का और सृष्टि के प्रारम्भ और उस से पूर्व की अवस्था का वर्णन करता है। इस मन्त्र के जप और होम से मानव संसार के वास्तविक स्वरूप और प्रजापति के तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर उस से सायुज्य प्राप्त कर सकेगा। बारह वर्ष की अवधि का आधार कुछ इस प्रकार रहा हो सकता है कि द्वादशाह प्रजापतियज्ञ है। संवत्सर ही प्रजापति है।[१५८] वर्ष में बारह महीने होते हैं। अब्द का मूल अर्थ अप्–द=जलप्रद है। प्रलयावस्था में सृष्टि भी अप्रकेत सलिल रूप हो जाती है। प्रजापति से सायुज्य भी इस स्थिति का प्रज्ञापक है। तथापि विधानकार के ठीक-ठीक अभिप्राय का निर्णय कठिन है।

---

१५५. ऋ. १० । १२९ । १ १५६. ऋग्विधान, श्लोक ६३५
१५७. ऋग्विधान, जे. खोण्डा का अंग्रेजी अनुवाद, ४ । ९ । ३, पृ० १०७
१५८. ऐ० ४ । २५

६७. रावण[१५९] इस प्रकार की कोई भावना रखते प्रतीत नहीं होते हैं। उन्हों ने ऐसा कोई विनियोग नहीं दिया है, न ऐसा भावनात्मक व्याख्यान। उन्हों ने 'तद्विष्णोः'[१६०] का अर्थ परमात्मा के भ्रूमध्य में साक्षात्कार और 'नासदासीत्'[१६१] का प्रलय से पूर्व की अवस्था का द्योतक किया है।

---

३. रावण और अन्य वेदभाष्यकार

माधव भट्ट

६८. माधवभट्ट का भाष्य केवल दो ही रावणीय ऋचाओं[१६२] पर मिलता है। उस के अनुसार विष्णु का परम पद उत्तम अर्थात् तृतीय स्थान (-लोक) है। स्तोता सदा उसे ऐसे देखते हैं— अनुभव करते हैं, जैसे द्युलोक में फैले हुए बादल आदि को मानव की आंख देखती है। व्यवधान आदि के अभाव के कारण यह विष्णुदर्शन विशदतर होता है[१६३]। जागृवान् स्तोता तपों और कर्मों से अग्नि को प्रदीप्त करते हैं— साधते हैं। भाव यह है कि काष्ठ से अग्नि प्रदीप्त की जाती है, अतः वह उत्पादित नहीं कही जा सकती है[१६४]।

---

१५९. राभा०, पृ० १; ११-१२; १७;२५-२६

१६०. ऋ. १। २२। २०; राभा०, पृ० १;१७

१६१. ऋ. १०। १२९। १; राभा०, पृ० ११-१२; २५-२६

१६२. ऋ० १। २२। २०-२१।

१६३. ऋ० १। २२। २०, -सी० के० राज का संशोधित पाठ

१६४. वही, मं० २१.

६९. माधवभट्ट के इस अंश में न कोई निर्वचन हैं, न कोई उद्धरण, न कोई विवेचन। भाव की दृष्टि मे रावण का भेद सुस्पष्ट है[१६५]। वे विष्णुस्थान को शरीर में विष्णु का अभिव्यक्ति—ज्ञान का स्थान—भौओं का मध्य स्थल मानते हैं। महानुभाव ब्रह्म का सतत साक्षात् करते रहे हैं। रावण चक्षु का एक अन्य अर्थ भी देते हैं— अर्थ का प्रकाश। उन के विचार में जागरूकता दृश्य प्रपञ्च रूप दीर्घ स्वप्न से जागरण है और समिन्धन सर्वात्म रूप में दर्शन है। अपने भावार्थ में वे अभ्यास और व्यवहार दोनों दशाओं में दर्शन के प्रकारों का समन्वय उद्भावित करते हैं। माधवभट्ट की दृष्टि इस से पूर्वोक्त धारा में भिन्न है। उन पर अद्वैत और मायावाद का प्रभाव भी अलक्षित है।

७०. यद्यपि माधवभट्ट के इस अंश में निर्वचन आदि नहीं हैं, तथापि उन के भाष्य के उपलब्ध और प्रकाशित अंश में 'परिचित, अपरिचित, नये और पुराने सभी प्रकार के निर्वचन पाये जाते हैं। इन की इस भाष्य में भरमार है। बहुधा ये निर्वचन दे कर छोड़ देते हैं, उस का विशेष व्याख्यान नहीं देते हैं।'[१६६] रावण निर्वचन के साथ भाव को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक व्याख्यान भी देते हैं। माधवभट्ट के निर्वचन और व्याख्यान यास्कीय निरुक्त की प्रणाली पर हैं। उन में ब्राह्मणों का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है।[१६७] रावण के भाष्य में ब्राह्मणों से कोई सहायता ली गई प्रतीत नहीं होती है। निरुक्त से भी एक सामान्य सा ही उद्धरण दिया गया है।[१६८] इन के निर्वचन[१६९] पूर्ण रूप से यास्कीय नहीं कहे जा सकते हैं।

१६५. राभा., पृ० १–२; १७–१८.

१६६. वेभाआअ० १। १७, पृ० ५

१६७. वही, १। ३, पृ० २

१६८. देखो परिशिष्ट ४

१६९. देखो परिशिष्ट ९

७१. ऋषि, देवता और छन्द आदि के विषय में रावणभाष्य से कोई प्रकाश प्राप्त नहीं होता है। अन्य जिन भाष्यकारों के पर्याप्त अंश उपलब्ध हैं, उन के इन विषयों पर और अन्य वैदिक विषयों पर विचार ज्ञात हैं, परन्तु उन का उल्लेख यहां अनावश्यक है–रावण के विचारों से उन की तुलना सम्भव नही।

स्कन्द स्वामी

७२. स्कन्द स्वामी का भाष्य भी रावणभाष्य के प्रथम दो मन्त्रों[१७०] पर ही उपलब्ध है। रावणभाष्य में स्कन्दभाष्य का अन्य कोई मन्त्र नहीं है। प्रथम मन्त्र के भाष्य में स्कन्द भी विद्वानों या स्तोताओं द्वारा विष्णु के परम पद के ध्यान का अर्थ लेते हैं। चक्षु का अर्थ 'ख्यान', 'प्रकाशन' है। यह प्रकाशन द्युलोकस्थ आदित्य का है। वह [द्युलोक में] फैला हुआ है। विष्णु को आदित्य भी माना जा सकता है। इस स्थिति में विद्वान् विष्णु के परम पद का ध्यान उसी प्रकार करते हैं, जैसे विस्तृत द्युलोक में आदित्य मण्डल नामक विष्णु के परम पद को देखते हैं। चक्षु आंख इन्द्रिय का भी द्योतक है। उस अवस्था में विद्वान् विष्णु के उत्कृष्ट पद को देखते हैं। मनुष्यों की दृष्टि जिस प्रकार आकाश में व्यापृत होती है, उसी प्रकार विष्णु में भी व्यापृत होती है। जिस प्रकार द्युलोकस्थ सूर्य एक होता हुआ भी जल में अनन्त संख्या में प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार (विष्णु) अकेला होने पर भी प्रपञ्च से अनेकों के समान (प्रतिभासित होता) है।[१७१] अनेक स्तुतियों की कामना करने वाले अथवा विशेष स्तुतियां वाले मेधावी जन प्रमादरहित हो अपनी स्तुतियों से विष्णु के परम पद को भलीभांति दीप्त करते हैं।[१७२]

---

१७०. ऋ० १।२२।२०–२१

१७१. वही, मं० २०

१७२. वही, मं० २१

७३. इस भाष्य में स्कन्द रावण[१७३] के समान भाव का विस्तार भी करते हैं, और प्रपञ्च–मायावाद का भी आश्रय लेते हैं। रावण ने स्कन्द के समान चक्षु के अनेक व्याख्यान और वाक्य की अनेक योजनाएं न दे कर केवल दो अर्थों में ही अपने को सीमित कर लिया है। स्कन्द ने शरीरस्थ विष्णु के अभिव्यक्ति-स्थल भ्रूमध्यस्थ स्थान की कल्पना नहीं की है। रावण आदित्य को बीच में नहीं लाते हैं। वस्तुतः रावण का भाष्य स्कन्द स्वामी की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और ध्यान के विषय का प्रतिपादक है, स्कन्द का उलझाने वाला है। उस ने यथासम्भव सभी योजनाओं की कल्पना कर मूल को समझाने का विशेष प्रयास किया है।

७४. स्कन्दस्वामी के इस अंश में 'विपन्यवः' का निर्वचन— 'विविधस्तुतिकामाः। पन स्तुतौ। युः कामे। मतुपि वा। विस्तुति-मन्त इति वा' ध्यान देने योग्य है। इस में वे इस पद का वि–पन्-यु रूप अक्षरात्मक निर्वचन ले रहे हैं।[१७४] रावणभाष्य में भी 'सखाया' और 'स्वधा' के निर्वचन एकाक्षरात्मक हैं।[१७५] स्कन्द-स्वामी यास्क के सदृश और व्याकरण की प्रक्रिया से पुष्ट भी अनेकों निर्वचन देते हैं।[१७६]

वेंकटमाधव

७५. वेंकट माधव का भाष्य पर्याप्त संक्षिप्त और मूल के पदों के क्रम पर लिखा गया है। इस में रावणभाष्य आदि के समान व्याख्या और भाव के स्पष्टीकरण का सर्वथा अभाव है। कभी–कभी वैकल्पिक अर्थ भी प्राप्त होते हैं। यथा 'तद्विष्णोः'

---

१७३. राभा०, पृ० १–२; १७–१८.

१७४. देखो ऋ० १। २२। २१ का भाष्य १७५. देखो परिशिष्ट ९

१७६. वेभाआअ०, २। ३०; ३३; ३८; ४१–४३। पृ० ११–१५

मन्त्र[177] के 'चक्षुः' के 'तेज' और 'आंख' दो वैकल्पिक अर्थ दिए हैं। प्राज्ञ विष्णु के उत्तम स्थान को अन्तरिक्ष में फैले हुए तेज अथवा चक्षु के समान देखते हैं।

७६. कभी–कभी वेंकट माधव पदों के क्रम में कुछ परिवर्तन भी कर देते हैं। यथा इस मन्त्र में चक्षुराततम् का आततम् चक्षुः क्रम से व्याख्यान किया है। 'तद्विप्रासो' मन्त्र[178] में 'परमम्' और 'पदम्' पदों का 'तत्' के साथ अर्थ दिया है। यहां समिन्धन 'कर्मों से यज्ञ का सन्दीपन' है। वे 'यत्' का 'यज्ञाख्यम्' से व्याख्यान करते हैं।[179] 'यत्' का इस प्रकार का अर्थ न्य भाष्यों में मृग्य है, रावणभाष्य में भी नहीं है। समस्त मन्त्र का भाव—"विविध प्रकार से स्तुति करते हुए, स्वप्नवर्जित मेधावी यज्ञ नामक उस उत्तम पद को कर्मों से प्रदीप्त करते हैं"—है।

७७. 'द्वा सुपर्णा'[180] के अर्थ में वेंकट माधव रावण से भिन्न विचार देते हैं। उन के विचार में दो पक्षी आदित्य और सोम हैं, जो सुपतन हैं, और साथ-साथ लोकनिर्वहण में लगे हुए सखा हैं। ये दोनों संवत्सर (रूप) वृक्ष पर आश्रय ले कर बैठे हैं। इन में से एक उस के स्वादु फल को खाता है। दूसरा सोम बिना खाए उस को देखता है, क्यों कि[181] इन्द्र सोम को खाता है।

७८. इस व्याख्यान में वेङ्कट माधव ने पक्षी और वृक्ष के भावों में भेद उपस्थित कर सारी धारा पलट ली है। रावण और वेङ्कट माधव दोनों का ही लक्ष्य इस मन्त्र में लोक की पूर्णता को

१७७. ऋ० १ । २२ । २०   १७८. वही, मं० २१

१७९. 'यज्ञाख्यं' को 'परमं पदं' का अर्थ मानना सम्भव नहीं क्यो कि इन दोनों पदों का अर्थ–'उत्तमम् । पदम्' । पहले आ चुका है।

१८०. ऋ० १ । १६४ । २०   १८१. यह 'इति' का अर्थ है।

व्यक्त कर तीन तत्वों—दो पक्षी और एक वृक्ष की संगति प्रस्तुत करना है। रावणभाष्य अद्वैतवादी है और मन्त्र त्रैतवादी। अतः रावण को सयुजा सखाया का अद्वैतप्रतिपादक अर्थ कर जीवात्मा और परमात्मा का तादात्म्य सिद्ध करना पड़ा है।[१८२] वेङ्कट माधव ने जीवात्मा और परमात्मा का परित्याग कर इस समस्या को सामने उपस्थित नहीं होने दिया है। वेङ्कट माधव का वाक्य 'इन्द्र सोम को खाता है' व्याख्या की अपेक्षा रखता है। सम्भवतः इस का आधार उस की यह मान्याता है कि विभिन्न यज्ञों में सब जगत् का एक मात्र प्रभु इन्द्र व्यापक है।[१८३]

७९. वेंकट माधव ने एक नए वेदार्थ सम्प्रदाय को प्रवृत्त किया है। वे आख्यानिक-पौराणिक भाष्यकार हैं। रावण में इन में से कोई भी प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती है। वेंकट माधव ने मायावाद और अद्वैतवाद का भी परिचय स्पष्ट कहीं व्यक्त नहीं किया है।

शंकराचार्य

८०. शङ्कराचार्य ने आठवीं शती में अपने अद्वैत और मायावाद के प्रतिपादन और प्रचार से संसार के दार्शनिक चिन्तन को एक नया मोड़ दिया। इस का प्रभाव जीवन के समस्त क्षेत्रों पर पड़ा। बौद्धों का तो समूल उच्छेद भारतभूमि से हुआ ही, साथ ही साथ भारतीय प्राचीन परम्परा से प्राप्त वेद का अध्ययन भी उस से प्रभावित हुआ। वेदार्थ और वेदचिन्तन में भी ये दो वाद प्रविष्ट हो गए। इसी के फलस्वरूप रावण का भाष्य प्रवृत्त हुआ

१८२. रामा. पृ० ३; १८–१९.

१८३. ऋअवेमा०, ७। ६। १३–१४; वेमाआअ० ४। ६१; पृ० २१ भी देखें।

है। आत्मानन्द भी इस धारा के अनुयायी हैं। सायण भी इस से अछूते नहीं रहे हैं।

८१. शंकराचार्य ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता का आश्रय तो लिया ही और उन पर भाष्य लिखे, साथ ही स्वतःप्रमाण आप्त-वाक्य माने गए वेदमन्त्रों का भी अपने मत की पुष्टि में अद्वैत और मायावादपरक अर्थ किया है। ये अर्थ शतश्लोकी में मिलते हैं।

८२. 'चतुष्कपर्दा'[१८४] का भाव रावण के भाष्य के अनुरूप है। "इस माया की चार विशेषताएँ हैं। प्रथम तो यह सदा ही नवीन और युवती बनी रहती है। दूसरे यह बड़ी ही चतुर है, क्यों कि यह अनहोनी बातों को भी कर दिखलाने में कुशल है। तीसरे यह पहले-पहल बड़ी चिकनी-चुपड़ी जान पड़ती है और चौथे यह अपनी आवरण शक्ति से वेदजनित आत्मज्ञान को ढके रहती है। उस में दो पक्षियों के समान स्थित हुए ये ईश्वर और जीव सब वस्तुओं को प्रकाशित करते रहते हैं।"[१८५]

८३. 'एकः सुपर्णः'[१८६] में जीव और ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन है। उन दो पक्षियों में से एक (ब्रह्म) तो असंग है। दूसरा अज्ञानसमुद्र में डूबा हुआ है। वह अपने आत्मस्वरूप को भूल कर नाना प्रकार के जगत् रूप आभास को देखता है। जिस समय वह अपनी बुद्धि से अन्तःकरण में विचार करता है, तो माया उसे छोड़ देती है, और वह भी उसे छोड़ देता है।[१८७] रावण ने अपने भाष्य में दो सुपर्णों के कथन से दो ईश्वरों के प्रतीयमान

---

१८४. ऋ० १०।११४।३

१८५ शतश्लोकी, २६, मुनिलाल का अनुवाद, पृ० १६

१८६. ऋ. १०।११४।४

१८७. शतश्लोकी, २७(मुनिलाल का अनुवाद, पृ० १७ के आधार पर)।

भाव का परिहार मानते हुए एक सुपर्ण–ईश्वर या ब्रह्म का वर्णन माना है. जो इस स्थूल प्रपञ्च में प्रविष्ट हो कर अपने मन में [अपने स्वरूप को] देखता है। [१८८]

८४. 'नासदासीत्'[१८९] और 'न मृत्युरासीत्'[१९०] और "सर्वे नन्दन्ति"[१९१] का भाव रावण ने[१९२] शंकर के शतश्लोकी के आधार पर ही लिखा प्रतीत होता है। शतश्लोकी के एतद्विषयक श्लोकों का अनुवाद मुनिलाल के शब्दों में यह है–

८५. "सृष्टिकाल में कोई असत् पदार्थ नहीं था क्योंकि वह आकाशकुसुम के समान तुच्छ—अभाव रूप है, इसी प्रकार ब्रह्म में भेद करने वाला कोई सत्पदार्थ भी नहीं था। किंतु इन दोनों से विलक्षण कोई और ही पदार्थ था। उस समय व्यवहार का विषय-भूत यह लोक नहीं था. क्यों कि यह सोपी में प्रतीत होने वाली चांदी के समान पीछे ही उत्पन्न हुआ है। उस समय विराट् और उस का पूर्ववर्ती कारण आकाश भी नहीं था। ऐसी स्थिति में मायावी के मायानिर्मित जल से जिस प्रकार पृथिवी का आवरण नहीं होता है उसी प्रकार इस शुद्ध ब्रह्म का क्या आवरण हो सकता है।"[१९३]

८६. "इस प्रकार जब जन्म-मरणरूप बन्ध ही नहीं था तो मोक्ष भी कुछ नहीं था। जैसे सूर्य में दिन या रात्रि नहीं होते.

---

१८८. रामा०, पृ० १०–११; २४–२५ १८९. ऋ. १० । १२९ । १ ।

१९०. वही, मं० २ १९१. वही १० । ७१ । १०

१९२. रामा०, पृ० ११–१३;७; २५–२७; २१–२२

१९३. शतश्लोकी, २३, पृ० १४। इस में और अगले मन्त्र के भाव में अनुवादक द्वारा अपनी ओर से जोड़े हुए वाक्यों को छोड़ दिया गया है।

बल्कि यह हमारी दृष्टि का ही दोष है। अतः सब से पहले प्राणादि सम्बन्ध से रहित एक शुद्ध ब्रह्म ही था, उसी का माया से कर्त्ता नाम पड़ गया। उस से पृथक् और कुछ न था, माया से मोहित हो कर वही जीव बन गया।"[१९४]

८७. "अन्दर से चक्षु आदि इन्द्रियों का ग्रहण करते हुए और बाहर से विषयभोग दे कर सब का उपकार करने वाले ब्रह्म के प्राप्त हो जाने पर सभी जीव आनन्दित हो जाते हैं, जिस प्रकार कि सुषुप्ति में सभी जीव उस में समान भाव से स्थित हो आनन्दित होते हैं।"[१९५]

आत्मानन्द

८८. आत्मानन्द का मत है कि ब्रह्मविद्या का ही सेवन करना चाहिए। जीव अविद्यासिद्ध है। अतः उस के यथार्थ स्वरूप के निर्देश के प्रयोजन से ही 'द्वा सुपर्णा'[१९६] का पाठ किया गया है। दो (सुपर्णा) साधु अभ्युदय और निःश्रेयस के पक्षों को धारण करने वाले जीव और परमात्मा, (सयुजा) एक दूसरे को नहीं छोड़ते हैं। वे (सखाया) परोपकारी हैं। दोनों ही एक व्रश्चनीय (=नश्वर) देह को सब ओर से चिपटे हुए हैं। उन में से एक जीव पीपली के समान बहुत दोषों वाले भी कर्मों के फल को स्वादु मान कर चखता है, दूसरा परमात्मा बिना खाए भी सब ओर अतिशय से प्रकाशमान है।

८९. रावण और आत्मानन्द की उपर्युक्त दृष्टि में मूलतः कोई भेद नहीं है। दोनों ही अद्वैत तत्त्व के प्रतिपादक हैं, जीव

---

१९४. वही, २४, पृ० १५.   १९५. वही, ६६, पृ० ४०

१९६. ऋ. १। १६४। २०

को ईश्वर का ही रूपान्तर या अंश मानते हैं। आत्मानन्द शंकराचार्य के मत को पूर्णतया अंगीकार करते हैं। वे शंकर को अवतार भी मानते हैं। उन की मान्यता है कि "मन्त्रों के अभिप्राय के प्रतिपादन के अनेक प्रकारों में 'अद्वैत' की प्रतिपादिका शैली ही प्रामाणिक है।"[१९७]

९०. दोनों भाष्यकारों—रावण और आत्मानन्द के पदों के अर्थों या भावों में भेद सुस्पष्ट है। आत्मानन्द के अर्थों में अध्यात्म और सदाचार की पृष्ठभूमि झलक रही है। रावण के अर्थों में आचारविषयक कोई संकेत नहीं है।

९१. आत्मानन्द वैदिक पदों को दार्शनिक परिभाषाएं मानते हैं। निर्वचनों का भी प्रयोग करते हैं। ये छन्दों के नामों को ब्रह्म का वाचक, अभिमानी देवताओं, त्रिमूर्ति और सगुण ब्रह्म को मानते हैं।[१९८] रावण के एतद्विषयक विचारों को जानने का कोई साधन आज उपलब्ध नहीं है।

वररुचि

९२. केवल दो ही मन्त्रों-ऋ. १।२२।२० और १०।१२९।२—पर वररुचि और रावण दोनों का भाष्य मिलता है। वररुचि मानते हैं कि प्रथम मन्त्र में द्युलोकस्थ (विष्णु) के प्रदर्शन के लिए निर्दिष्ट सूर्यमण्डल की स्तुति है। यह देवता प्राधान्यस्तुतिभाक् है विष्णु आदित्य ही है। वह आकाश को व्याप्त और दीप्त करता है। इन भगवान् आदित्य का मण्डल निरुपम तेजोनिधान, जगत् के व्यापार का कारण और उत्कृष्ट है। इस मन्दिर—मण्डल को

---

१९७. वेभाआअ०, २१। १९९, पृ० ८१:
१९८. वही, २१, पृ० ७८–८०

परिपक्व ज्ञान वाले पण्डित सदा देखते हैं। इन का दर्शन सामान्य जनों के समान होने पर भी ये विद्वज्जन निगम, निरुक्त और व्याकरणादि विद्यारूप चक्षु से (उस के वास्तविक स्वरूप को) देखते हैं, और संसार के बन्धन से छुट जाते हैं। जैसे आंख प्रत्यक्ष वस्तुओं की प्रकाशक होती है, इसी प्रकार आदित्यमण्डल भी अन्तरिक्षस्थ (?)[१९९] समस्त हिमालय आदि वस्तुओं का प्रकाशक है, और पदार्थों के प्रति अभिमुख हो कर फैला हुआ है। उस को हम भी नमस्ते करते हैं।[२००]

९३. रावण ने[२०१] विष्णु को परमात्मा मान कर अधिक संगत व्याख्या प्रस्तुत की है। वररुचि का भाष्य आधिभौतिक (फिज़िकल) है। परन्तु उस ने इस में आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थों और दृष्टियों का संकर प्रस्तुत कर भाव को व्याख्यागम्य बना दिया है। निगम, निरुक्त तथा व्याकरणादि विद्याओं से आदित्यमण्डल के ज्ञान का कथन सम्भवतः वाग्ब्रह्म की ओर निर्देश करता है—ब्रह्माण्डस्थ समस्त पदार्थ वाग्रूप हैं, उस से उत्पन्न होते हैं, उस में रहते हैं, और उसी में लीन हो जाते हैं। अतः वाक् के ज्ञान से, जो आगम, निरुक्त और व्याकरण आदि से होता है, समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। आदित्यमण्डल का यह यथार्थ ज्ञान भी वाग्ज्ञान से ही सम्भव है।

९४. दोनों भाष्यकारों का 'न मृत्युरासीत्'[२०२] मन्त्र का मूलभाव समान ही कहा जा सकता है। वररुचि भी यहां प्रलय के पश्चात् जगत् की रचना से पूर्व की स्थिति का वर्णन मानते हैं। उस समय मरने वालों का अभाव होने से मृत्यु नहीं थी। प्राणियों

---

१९९. मुपा. अन्तरस्थ
२००. वानिस० १ । ३; पृ० ६–८
२०१. रामा०, पृ० १;१७
२०२. ऋ० १० । १२९ । २

के अभाव के कारण जीवन भी नहीं था। उस समय यह दिन है, यह रात है—ऐसा दिन-रात का प्रज्ञान नहीं था। अथवा दिन-रात का उदय और अस्त द्वारा विभाग करने वाले प्रज्ञापयिता आदित्य और उस से उपलक्षित समस्त देव भी नहीं थे। नाभि-प्रदेश से उठ कर मुख और नासिका से निकलने वाले लौकिक प्राणन से रहित, अन्नजन्य शक्ति से अवबोधित आत्मावस्थिति रूप शक्ति से अलौकिक प्राणन से सम्पन्न आत्मा नामक कारण ब्रह्म था। वह अकेला ही था। उस के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।[२०३]

९५. इस भाष्य में वररुचि ने शंकर के अद्वैतवाद और मायावाद का प्रज्ञापक कोई पद नहीं रक्खा है। रावण ने ब्रह्म को शुद्ध, कर्तृरूप और मायाशबलित सूत्रात्मसंज्ञ कह कर इन दोनों वादों को प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध किया है।[२०४] वररुचि ने इस ब्रह्म को कारण ब्रह्म अवश्य कहा है, परन्तु यह कारण निमित्त है. या उपादान, यह व्यक्त न होने से उस के इस व्याख्यान को अद्वैत-वादी कहना सुरक्षित नहीं है। मृत्यु और अमृत के व्याख्यान—मृत्यु और जीवन या प्राणन इसी चेतावनी की ओर संकेत करते हैं। रावण ने इन्हें बन्ध और मोक्ष मान कर अद्वैत दर्शन का प्रकाश किया है।

९६. वररुचि ने अपने इन व्याख्यानों में निर्वचनों का भी प्रयोग किया है। वे वस्तुतः नैरुक्त हैं और यास्क के निरुक्त का प्रचुर प्रयोग करते हैं। सी. कुन्हनराज तो इसे यास्कीय निरुक्त

---

२०२. ऋ० १० । १२९ । २ २०३. वानिस० ४ । २४; पृ० ९२
२०४. रामा० पृ० १३;२७

की वेदभाष्यपद्धति का क्रियात्मक निरूपण मानते हैं।[२०५] प्रस्तुत मन्त्रों के व्याख्यान में वररुचि ने प्रधान देवता का लक्षण उद्धृत किया है, तथा विष्णोः, पदम्, ततम्, प्रकेत:, आनीत् की निरुक्ति और व्युत्पत्तियां प्रदर्शित की हैं। उन्हों ने निरुक्त और आगमों से अपने अर्थ की पुष्टि में उद्धरण भी दिए हैं। रावणभाष्य इन दृष्टियों मे बहुत समृद्ध नहीं माना जा सकता। जिन पदों को ये पारिभाषिक मानते हैं, उन का व्याख्यान करना दोनों ने ही उचित और आवश्यक समझा है।

गुणविष्णु

९७ गुणविष्णु की दो रचनाए प्रकाश में आई हैं—छान्दोग्य मन्त्रब्राह्मण और छान्दोग्यब्राह्मण। पिछली रचना में कोई ऐसा मन्त्र नहीं है, जिस पर रावणभाष्य मिलता हो। प्रथम रचना में से लक्ष्मण स्वरूप ने ऋगर्थदीपिका के खण्ड दो के परिशिष्ट में ऋ. १।२२।२०—२१ का भाष्य प्रस्तुत किया है।

९८. गुणविष्णु का इन मन्त्रों का भाष्य सरल और सीधा है—आकाश में विस्फारित चक्षु से अन्य (लौकिक) दृश्यों के समान ज्ञानी जन विष्णु के उत्कृष्ट विराट्स्थान का साक्षात्कार करते हैं, कर्ममात्र में पर्यवसायी (=केन्द्रित) नहीं रहते हैं। वर्णाश्रम धर्मों से विविध वासुदेव की पूजा करते हुए, संसार के भय के उद्वेग से प्रबुद्ध मेधावी विष्णु के परम पद को अभेदपर्यन्त ध्याते हैं।[२०६]

९९ गुणविष्णु ने विष्णु को वासुदेव, संभवतः देवकी और वसुदेव का पुत्र कृष्ण और इस कारण पौराणिक विष्णु माना है,

२०५. कुन्हनराज, सी०, वानिस०, भूमिका; वेमाआभ०, ८। ११०, पृ० ४५ भी देखें।

२०६. ऋदी०, पृ० २।६१६

जिस के साथ अन्त में ध्यानकर्त्ता ज्ञानी का अभेद—तादात्म्य सम्भव है। अतः ये भी अद्वैतवादी हैं और स्पष्ट न लिखते हुए भी मनुष्य को विष्णु का अंश मानते प्रतीत होते हैं। ये माया या अविद्या का भी उल्लेख नहीं करते हैं। रावण[२०७] विष्णु को व्यापनशील परमात्मा मानते हैं, जिस का द्युलोकस्थ तीनचौथाई अंश सत्यज्ञानानन्दात्मक है। दोनों मेधावी को जागरूक चाहते हैं—गुणविष्णु उद्वेगजन्य प्रबोध का आश्रय लेते हैं, और रावण स्वप्न से जागृतिजन्य प्रबोध के पक्षपाती हैं। गुणविष्णु की दृष्टि में समिन्धन अभेदसम्बन्ध का स्थापन है, रावण की दृष्टि में वह सर्वात्मरूप दर्शन है। गुणविष्णु मेधावियों को कर्मरत भी चाहते हैं। अतः ये कर्म और उपासना में भेद मान दोनों का समन्वय चाहते हैं।

१००. दूसरे मन्त्र[२०८] के भाष्य में गुणविष्णु ने 'विपन्यवः', 'विप्रासः', 'जागृवांसः' और 'समिन्धते' की निरुक्ति और पाणिनीय व्याकरण की प्रक्रिया से अनुगत व्युत्पत्ति प्रदर्शित की हैं। रावण में यह व्याख्यानसमृद्धि नहीं है।

आनन्दतीर्थ मध्व

१०१. मध्व का भाष्य भी रावणीय प्रथम दो मन्त्रों पर ही श्लोकबद्ध रूप में मिलता है। उन के विचार में रमा, ब्रह्मा और शिव आदि के भी पद हैं, परन्तु विष्णु का पद—रूप सर्वोत्कृष्ट है। उसे संसार से निर्मुक्त सूरिजन ऐसे ही देखते हैं, जैसे आकाश में व्याप्त चक्षु स्वयं अदृश्य होती है, परन्तु विषयोपलब्धिरूप फल से

---

२०७. रामा०, पृ० १; १७

२०८. ऋ० १।२२।२१

उस का दर्शन होता है।[२०९] संसार से प्रबुद्ध अर्थात् निर्मुक्त परम ज्ञानी जन अपने विज्ञानों से विष्णु के परमपद को जानते हैं, या ज्ञात कराते हैं।[२१०]

१०२. मध्व पुराणपथानुगामी और विष्णुभक्त हैं। उन के मत में सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रों का सार और शिक्षा नारायण है।[२११] वैष्णव विष्णु को सब देवों में श्रेष्ठ मानते हैं। अतः मध्व ने विष्णुपद को रमा, ब्रह्मा और शिव आदि से श्रेष्ठ माना है। रावण के भाष्य से उन के विष्णुभक्ति-परायण वैष्णव होने का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता है, वे अद्वैतवादी हैं।

१०३ मध्व के इन दो मन्त्रों के भाष्य में कोई विशेष वैशिष्ट्य नहीं है। उन का द्युलोक में आतत चक्षु का व्याख्यान जटिल है।[२१२]इस अंश में कोई सीधा निर्वचन भी नहीं है। वे विपन्यवः ज्ञानितमाः कह कर पन् को ज्ञानार्थक मानते हैं। वैसे इन के भाष्य में निर्वचन पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। रावणभाष्य में मध्व के द्वारा व्याख्यात अन्य कोई मन्त्र न मिलने से मध्व की वेद-विषयक अन्य विचारधाराओं की रावण से तुलना सम्भव नहीं।

उवट-महीधर

१०४. उवट और महीधर का भाष्य रावणभाष्य के केवल तीन मन्त्रों–ऋ०१।२२।२०;२१[२१३] और १०।८।१२[२१४] पर मिलता है।

---

२०९. ऋ. १। २२। २०; पृ० १७। १४, टीका २। ७। २०
२१०. ऋ. १। २२। २१; पृ० १७। १५, टीका २। ७। २१
२११. वेमाआअ०, २२। १७१; १७७–१७८, पृ० ८२; ८४
२१२. छलारी टीका (२। ७। २१) भी देखें।
२१३. राभा०, पृ० १–२; १७–१८.   २१४. वही, पृ० ७–८; २२

१०५. "उवट और महीधर के भाष्यों में पर्याप्त समानता है। अनेक स्थलों पर महीधर के भाष्य को उवट के भाष्य का सरलीकृत, परिवर्धित और यत्र-तत्र परिवर्तित और संक्षेपित व्याख्यान कहा जा सकता है।

१०६. "इतना होने पर भी महीधर की अपनी स्वतन्त्रता और विशेषता है। कई बार महीधर उवट के अर्थ के साथ-साथ एक और भी अर्थ देते हैं, जो उवटभाष्य की अपेक्षा अधिक अच्छा प्रतीत होता है। व्याकरण के ज्ञान के प्रदर्शन में महीधर उवट से पर्याप्त आगे बढ़ जाते हैं।

१०७. "परन्तु फिर भी मूल सिद्धान्तों, दृष्टि और शैली में दोनों में कोई अन्तर नहीं है"।[२१५]

१०८. प्रस्तुत स्थलों में भी महीधर उवट के व्याख्याता के रूप में ही उपस्थित होते हैं। अतः रावण से दोनों की तुलना एक साथ की जा सकती है।

१०९. उवट-महीधर यजुर्वेद पर कर्मकाण्ड की दृष्टि से यज्ञपरक भाष्य प्रस्तुत करते हैं, रावण यज्ञ से परिहृत आध्यात्मिक और दार्शनिक व्याख्यान देते हैं। उवट-महीधर अपने इस दृष्टिभेद के कारण रावण के अद्वैत और मायावाद की दृष्टि से दूर पड़ जाते हैं। उन के भाष्य में इन का कोई पुट प्रतीत नहीं होता है।

११०. 'तद्विष्णोः'[२१६] को यूपकटक को देखते हुए यजमान से पढ़वाया जाता है। विष्णु का परम स्वरूप विज्ञानघनबहुल और आनन्दस्वभाव[२१७] वाला है। वेदान्तज्ञान से खुले हुए

---

२१५. वेमाआअ० ६। ९०–९२

२१६. ऋ. १। २२। २० य० ६। ५ में

२१७. उमा०

रहस्य के संपुट वाले[२१८] अर्थात् वेदान्त में पारंगत विद्वान् आवरणहीन आकाश में व्याप्त आदित्यमण्डल के सदृश उस उपर्युक्त विष्णुपद को देखते हैं। अथवा विष्णु का परमपद चक्षु=आदित्य ही है, जिसे अधियज्ञवित् पण्डित[२१९] सदा देखते हैं।

१११. अप्रमत्त अर्थात् ज्ञानसमुच्चय करने वाले ब्राह्मण मेधावी जन उस यज्ञ के ब्रह्म नामक परम पद को उपासना से निर्मल करते हैं। महीधर के मत में विपन्यु संसार के व्यवहारों से निवृत्त निष्काम जन हैं।

११२. 'किं स्विदासीदधिष्ठानम्'[२२०] दार्शनिक और सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। उवट और महीधर ने इस तथ्य को स्वीकार कर स्पष्ट पदों में व्यक्त किया है। उन के अनुसार इस मन्त्र में कहा गया है कि सब ओर दृष्टि वाले—अतीत अनागत और वर्तमान कालों के एक साथ ज्ञाता—अनन्यशक्ति विश्वकर्मा ने भूमि और द्युलोक को उत्पन्न करते समय जब अपने ऐश्वर्य से उत्पन्न हुए द्यु लोक और पृथिवीलोक को आच्छादित किया, उस समय ईश्वर की द्युलोक और पृथिवीलोक की रचना में घटादि के निर्माण के लिए मिट्टी आदि उपादान और निमित्त कारणों के समान अधिकरण—निवासस्थान और मृद् आदि आरम्भक द्रव्य कौन से थे ?

११३. इस प्रकार उवट-महीधर आध्यात्मिक, दार्शनिक और अधियज्ञ व्याख्यान देते हैं। इन में विष्णुपद, सूरियों और चक्षु को, तथा विपन्यु, जागृवस्, विप्र और समिन्धन की कल्पना में रावण से दूर का अन्तर हो गया है। रावण ने इन्हें योग और

---

२१८. वही २१९. वही

२२०. ऋ. १० । ८१ । २, य० १७ । १८

उपासना परक लिया है। उवट-महीधर वेदान्त के ज्ञान को प्रमुख स्थान देते हैं, रावण ने ऐसा कोई भाव व्यक्त नहीं किया है। तीसरे मन्त्र के व्याख्यान में दोनों में अर्थ तो लगभग एक ही है, परन्तु रावण ने अद्वैत के नाश की स्थिति का निराकरण करने का भी प्रयास किया है।

११४. इन भाष्यों में उवट-महीधर ने व्याकरणप्रक्रिया से अनुगत व्युत्पत्ति भी कतिपय पदों की दी है। इन तीन व्याख्यानों में शुद्ध यास्कीय निर्वचनों का अभाव ही कहा जा सकता है।

सायण

११५. सायण ही एक मात्र ऐसे भाष्यकार हैं, जिन का भाष्य वैदिक साहित्य के एक विशाल अंश पर उपलब्ध होता है। इन भाष्यों में वेदादि ग्रन्थों, निरुक्त और अष्टाध्यायी के पुष्कल प्रमाणों, व्याकरणप्रक्रिया स्वरस्थिति और पदसिद्धि के आधार पर व्याख्यानों की प्रचुरता है। सायण ने अपने काल में उपलब्ध लगभग सभी वैदिक सम्प्रदायों को अपने भाष्यों में स्थान दिया है, परन्तु उन में समन्वय बिठाने का कोई प्रयास उन के भाष्यों में दृष्टिपथ में नहीं आता है। परिणामतः कई बार मन्त्रों के अर्थों में सामञ्जस्य और स्वारस्य का अभाव खटकने लगता है।[२२१] रावण में ये गुण-दोष नहीं है। उन का भाष्य एक ही व्यक्ति का और आद्योपान्त एक ही विचारधारा वाला है।

११६. सायण ने अनेक बार अपने से पूर्ववर्ती भाष्यकारो के भाष्यों को अक्षरशः ग्रहण किया है।[२२२] रावणभाष्य की अन्य भाष्यों से तुलना उन्हें स्वतन्त्र लेखक सिद्ध करती है। उन के पूर्ववर्ती भाष्यकारों का प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा है; परन्तु

२२१. वेभाआअ० ७। ९९–१०५, पृ० ३८–४३

२२२. वही, ७। १०६, पृ० ४३–४४

अभी तक कोई ऐसा व्याख्यान नहीं मिला है, जो इन्हों ने अपने पूर्ववर्ती भाष्यकारों से अक्षरशः लिया हो । यदि रावण को सायण से पूर्व रक्खा जाए, तो मानना पड़ेगा कि सायण ने इन के भाष्य से कुछ अंश अक्षरशः या सामान्य से नगण्य परिवर्तन के साथ ग्रहण किए हैं। यदि रावण को सायण का परवर्ती माना जाए, तो रावण सायणभाष्य से अक्षरशः अथवा अल्प परिवर्तन सहित कुछ अंश लेते हैं। यह तथ्य नीचे के मन्त्रों के भाष्यों की तुलना से सुव्यक्त हो जायगा।[२२३]

११७. 'द्वा सुपर्णा सयुजा' का दोनों का भाष्य इस प्रकार है-

रावण भाष्य

अत्र लौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयेते। यथा लोके द्वौ सुपर्णौ सुपतनौ शोभनगमनौ सयुजा समानयोगौ सखाया समानख्यानौ समानं वृक्षमेकं देहाकारवृक्षं परिषस्वजाते आश्रयतः। तयोरन्य एकः पिप्पलं फलं स्वादुतरमत्ति। अपरोऽनश्नन्नभिचाकशीत्यभिपश्यति। तद्वद् द्वौ सुपर्णस्थानीयौ क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ सयुजा समानयोगौ। योगो नाम सम्बन्धः स च तादात्म्यलक्षणः स एवात्मा जीवात्मनः स्वरूपम्।

सायण भाष्य

अत्र लौकिकपक्षिद्वय दृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयेते। यथा लोके द्वौ सुपर्णौ सुपतनौ शोभनगमनौ सयुजा समानयोगौ सखाया समानख्यानौ समानं वृक्षं परि षस्वजाते एकमेव वृक्षं परिषस्वजाते आश्रयतः तयोः अन्यः एकः पिप्पलं पक्वं स्वादुतरं अत्ति अपरः अनश्नन् अभि चाकशीति अभिपश्यति तद्वत् द्वौ सुपर्णस्थानीयौ क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ सयुजा समानयोगौ। योगो नाम सम्बन्धः स च तादात्म्यलक्षणः। स एवात्मा

२२३. ऋ. १। १६४। २०

एवमन्यस्यापीत्यैकात्म्ये । अत एव समानख्यानौ यस्य यादृशं ख्यानं स्फुरणं परमात्मनस्तदेवेतरस्याप्यत एव सखायौ एकरूपप्रकाशावित्यर्थः ॥[२२४]

जीवात्मनः स्वरूपं यस्य परमात्मनः स तदात्मा। एवमन्यस्यापि स एवात्मा परमात्मनः स्वरूपं यस्य जीवात्मनः। एवमेकस्वरूपौ इत्यर्थः। अनेन भास्करमतानुसारिणः अतिरेकिनाम्नो जीवात्मा परमात्मनो नान्यः स च परमात्मा जीवादन्यो नानाजीवाश्रयणादिति मतं निरस्तं भवति। ननु संबन्धो द्विष्ठः स च पक्षिणोरेव भेदमपेक्षते अतः कथमैकात्म्यमिति। न। औपाधिकभेदं वास्तवाभेदं चापेक्ष्य प्रवृत्तः। अतएव सखायौ समानख्यानौ नान्यख्यानौ। ननु एकस्य यादृशं ख्यानं तादृशमेव अन्यस्य इति व्युत्पत्त्या भेदः स्फुटं प्रतिभाति कथं तादात्म्यमुच्यते इति न वक्तव्यम्। नात्र परस्परं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः। अपि तु यस्य यादृशं ख्यानं स्फुरणं परमात्मनः तदेव ख्यानमितरस्यापि जीवात्मनः इति सखायौ इत्युच्यते। एकरूपप्रकाशावित्यर्थः। अत उपपन्नमैकात्म्यम्। अनेन वास्तवभेदोऽपि निरस्तः।[२२५]

---

२२४. ऋ १।१६४।२०

सायणभाष्य बहुत विस्तृत है। आगे वे रावण के देहाकार वृक्ष के भाव को भी 'वृश्च्यते इति वृक्षो देहः' लिख कर ग्रहण करते हैं तथा जीव और परमात्मा के तादात्म्य या ऐक्य को सविस्तार व्याख्यान करते हैं तथा प्रमाण में मु० ३।१।२ को उद्धृत कर व्याख्या द्वारा समझाते हैं और अद्वैत में संगत करते हैं। इन दोनों आत्माओं में भेद मोहजन्य ही है। सायण ने अनुभव-दशा में लौकिक बुद्धि से भेद स्वीकार कर के भी इस मन्त्र का अर्थ दिया है।—जीवात्मा अपने द्वारा उपार्जित स्वादु कर्मफल को भोगता है, और ईश्वर निःस्पृह तथा भोग से रहित हो उसे देखता है। परन्तु अन्त में फिर इस भेद को अवास्तव कहते हुए परमात्मा को अपनी आत्मा में अध्यस्त जगत् की साक्षी रूप में देखने वाला कहा है। रावण ने यह कुछ भी प्रस्तुत नहीं किया है। वह अद्वैतसिद्धि के लिए अपने लेख को पर्याप्त समझता है।

११८. 'किं स्विदधिष्ठानम्' का दोनों का भाष्य इस प्रकार है—

रावणभाष्य

किं स्विदासीदिति पूर्वमन्त्रे जगत्प्रलयकाले जगत् संहृत्य पश्चात् सिसृक्षायां द्यावापृथिव्योरुत्पादनवेलायामधिष्ठानं किं स्विदासीत् किं न किंचिदित्यर्थः। तथाऽऽरंभणं कतमं[२२५] स्विद् आरभ्यतेऽनेनेत्यारम्भणं कथमासीत् कथमभूत् किं सदसद्वा भवे-

सायणभाष्य

पूर्वमन्त्रे जगत्प्रलयकाले संहृत्य पश्चात् सिसृक्षायां सर्वं सृष्ट्वा तत्र प्रविष्ट इत्युक्तम्। अत्र तस्य द्वितीयस्याधिष्ठानजगदुपादानकारणाद्यसंभवात् सृष्टिरनुपपन्नेत्याक्षिपति। लोके हि घटं चिकीर्षुः कुलालो गृहादिकं किंचित्स्थानमधिष्ठाय मृद्रूपेणारम्भ-

२२५. यह पाठ भ्रष्ट। नपुंसक रूप कतमत् अभीष्ट है। सा०भा० में शुद्ध पाठ है।

दित्यर्थः। उभयमपि नोत्पद्यते। सच्चेदद्वैतत्वभङ्गः, असच्चेत् तदात्मकयोर्द्यावापृथिव्योरुपादानानर्हत्वात्, "नान्यत् किंचन मिषत्" इत्यादिश्रुतेश्च। यतो यस्मादधिष्ठानादारम्भणाच्च विश्वचक्षाः सर्वद्रष्टा परमेश्वरो भूमिं जनयन् वर्तते तथा द्यां दिवं व्यौर्णोत् व्यववृणोत् स्रष्टान्। महिना स्वमहित्वेन।[२२६]

द्रव्येण चक्रादिरूपैरुपकरणैर्घटं निष्पादयति। तद्वदीश्वरस्य जगदाश्रयद्यावापृथिव्योरुत्पादनवेलायाम् अधिष्ठानं किं स्विदासीत् किं नामाभूत्। न किंचिदित्यर्थः। तथा तयोः आरम्भणं कतमत् स्वित्। आरभ्यतेऽनेनेत्यारम्भणमुपादानकारणम्। तदपि कतमद् भवेत्। तदपि नेत्यर्थः। यद्यपि संभवेदारम्भणं कथासीत् कथमभूत्। किं स्वयं सदसद्वा भवेदित्यर्थः। उभयमपि नोपपद्यते। सच्चेदद्वैतभङ्गप्रसङ्गः। असच्चेत् सदात्मकयोर्द्यावापृथिव्योरुपादानानर्हत्वात् 'नान्यत् किंचन मिषत्' इति श्रुतेश्चेत्यभिप्रायः। यतः यस्मादधिष्ठानादारम्भणाच्च विश्वचक्षाः सर्वद्रष्टा विश्वकर्मा परमेश्वरः भूमिं जनयन् वर्तते तथा द्यां दिवं वि और्णोत् व्यवृणोत् सृष्टान् महिना स्वमहत्त्वेन। किं स्विदासीदिति।[१]

इस तुलना से यह भी सुव्यक्त है कि जो अंश रावणभाष्य में नहीं है, वह सायणभाष्य में भाष्यगत भावों या कथनों की व्याख्या और स्पष्टीकरणमात्र हैं। कुछ पाठों में परिवर्तन लेख के प्रवाह में

२२६. ऋ० १०।८१।२

स्वाभाविक रूप से अथवा जानबूझ कर किया गया माना जा सकता है। व्याख्या में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जो रावणभाष्य में संगत न हो सके। वह रावणभाष्य की विचारधारा की पोषक है। यहां तीन स्थितियां हो सकती हैं—(अ) दोनों ही ने किसी समान स्रोत से भाष्य को लिया हो, रावण ने संक्षिप्त रूप में सायण ने अविकल और पूर्ण रूप में। (आ) दैवज्ञ सूर्यपण्डित ने रावण-भाष्य को संक्षिप्त रूप में ही अपने प्रयोजन के अनुसार उद्धृत किया हो, अनुपयुक्त अप्रासंगिक अंश छोड़ दिया हो, और रावण-भाष्य में समस्त अंश हो जिसे सायण ने ग्रहण कर लिया है। (इ) सायण ने दो मिलते-जुलते भाव वाले भाष्यों को मिला कर प्रस्तुत किया हो। कुछ भी हो, जो तत्त्व रावणभाष्य में नहीं हैं, उन में से पर्याप्त अंश महीधर के य० १७। १८ के भाष्य में लगभग अविकल रूप में मिलता है। महीधर सायण के परवर्ती हैं।

११६. 'नासदासीद्' मन्त्र का भी दोनों का भाष्य अवलोकनीय है।

रावणभाष्य	सायणभाष्य
अथैतस्य प्रश्नोत्तरस्य प्रतिपादिकां श्रुतिमाह—नासद् इति। अनया सृष्टेः प्राङ् निरस्तसमस्तप्रपञ्चलयावस्था निरूप्यते। प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तदसच्छशविषाणवन्नीरूपाख्यं नासीत्। न हि तादृशात् कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भवति। तथा नो सदासीत्। परमार्थसतः	'तपसस्तन्महिनाजायतैकम्' इत्यादिनाग्रे सृष्टिः प्रतिपादयिष्यते। अधुना ततः प्रागवस्था निरस्तसमस्तप्रपञ्चा या प्रलयावस्था सा निरूप्यते। तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तत् असत् शशविषाणवन्नीरूपाख्यं न आसीत्। न हि तादृशात् कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भ-

परमात्मनोऽन्यत् सदस्तीत्युच्यमाने द्वैतत्त्वप्रसङ्गः। नापि व्यवहारसत्। अग्रे व्यवहाराभावस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तस्मादुभय वलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः। अथ व्यावहारिकसत्त्वं निषेधति तदानीमिति। 'लोका रजांस्युच्यन्ते' इति यास्कः। अत्र सामान्यापेक्षमेकवचनम्। एवं व्यवहारसत्ता पृथिव्यादीनामभावादित्यर्थः। तत्र व्योमान्तरिक्षं तदपि नासीत्। पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते। व्योम्नः परस्ताद् द्यु लोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यदस्ति तदपि नासीदित्यर्थः। अनेन ब्रह्माण्डमपि निषिद्धं भवति। यत एतद्भासमानं भूतजातं पूर्वं नासीत्। किन्तु शुक्तिरजतवन्मध्ये एवोत्पन्नमिति श्रुत्या निरूपितम्। न त्वासीदिति धातोस्तदानीमित्यव्ययस्य च भूतकालवाचित्वाद् व्योमादीनामसम्भवेऽपि किञ्चित्काल आसीदिति चेन्न। "आनीदवातम्" इति श्रुत्या तस्यापि निषेधात्। अतः सकलमपि दृश्यजातं प्राङ्निरूपितसदसवति। तथा नो सत् नैव सदात्मवत् सत्त्वेन निर्वाच्यम् आसीत्। यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति तथापि भावाभावयोः सहावस्थानमपि संभवति। कुतस्तयोः तादात्म्यमिति उभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः। ननु नो सदिति पारमार्थिक सत्त्वस्य निषेधः। तर्ह्यात्मनोऽप्यनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गः। अथोच्यते। न। आनीदवातमिति तस्य सत्त्वमग्रे वक्ष्यते परिशेषान्मायाया एवात्र सत्त्वं निषिध्यत इति। एवमपि तदानीमिति विशेषणानर्थक्यं व्यवहारदशायामपि तस्याः पारमर्थिकसत्त्वाभावात्। अथ व्यावहारिकसतां पृथिव्यादीनां भावानां विद्यमानत्वात् कथं नो सदिति निषेधः। तत्राह। नासीद्रज इत्यादि। 'लोका रजांस्युच्यन्ते' इति यास्कः। अत्र च सामान्यापेक्षमेकवचनम्। व्योम्नो वक्ष्यमाणत्वात् तस्याधस्तनाः पातालादयः पृथिव्यन्ता नासन्नित्यर्थः। तथा व्योम अन्तरिक्ष तदपि नो नेवासीत्।[१२७] पर इति सकारान्तं

१२७. राभा० में 'एव' नहीं है।

द्विलक्षणोपादानकं प्रातिभासिक-मिति पर्यवसन्नम्। अथतस्य ज्ञानैकनाश्यत्वेन प्रातिभासिकत्वं दृढीकुर्वन्नाह—"किमावरीव" इति। प्रागुक्त दृश्यजातं शर्मन्निति शर्मण्यबाधिते ब्रह्मणि किमावरीवः किमावरकं भवति वा नेत्यर्थः। अनेन यत् सदसद्विलक्षणमासीत्तत्स्वाश्रयव्यामोहकमित्युक्तम्। यथा कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य गहनं गभीरमक्षोभ्यमम्भस्तेन मायया रचितमम्भोमध्ये एवोत्पन्नं सत् कुहकस्यावरकं भवति वा नेत्यर्थः।[२२८]

परस्तादित्यर्थे वर्तते। परशब्दाच्छन्दसोऽस्तातेरर्थेऽसि–प्रत्ययः। परः व्योम्नः परस्तादुपरिदेशे-द्यु लोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यत् अस्ति तदपि नासीदित्यर्थः। अनेन चतुर्दशभुवनगर्भं ब्रह्माण्डं स्वरूपेण निषिद्धं भवति। अथ तदावरकत्वेन पुराणेषु प्रसिद्धानि यानि वियदादिभूतानि तेषामवस्थान प्रदेशं तदावरणनिमित्तं चाक्षेपमुखेन क्रमेण निषेधयति किमावरीवरिति। किम् आवरणीयं तत्त्वमावरकभूतजातम् आवरीवः। अत्यन्तमावृणुयात्। आवार्याभावात् तदावरकमपि नासीद् इत्यर्थः। वृणोतेर्लुगन्ताच्छान्दसे लङि तिपि रूपमेतत्। यद्वा किमिति प्रथमैव। किं तत्त्वमावरकमावृणुयात्। आव्रियमाणवत्तदपि स्वरूपेण नासीदित्यर्थः। आवृणवत् तत्तत्त्वं कुह कुत्र देशेऽवस्थायावृणोति। आधारभूतस्तादृशो देशोऽपि नासीदित्यर्थः। किं शब्दात् सप्तम्यर्थे हप्रत्ययः। 'कु तिहोः' इति प्रकृतेः क्वादेशः। कस्य शर्मन् कस्य वा भोक्तुर्जीवस्य शर्मणि

२२८. ऋ० १०। १२९। १

सुखदुःखसाक्षात्कारलक्षणे भोगे निमित्तभूते सति तदावरकं तत्त्वमावृणुयात्। जीवानामुपभोगार्था हि सृष्टिः। तस्यां हि सत्यां ब्रह्माण्डस्य भूतैरावरणं प्रलयदशायां च भोक्तारो जीवा उपाधिविलयात् प्रलीना इति कस्य कश्चिदपि भोक्ता न संभवतीत्यावरणस्य निमित्ताभावादपि तन्न घटत इत्यर्थः। एतेन भोग्यप्रपञ्चवत् भोक्तृप्रपञ्चोऽपि तदानीं नासीदित्युक्तं भवति। किं शब्दादुत्तरस्य ङसः 'सावेकाचः०' इति प्राप्तस्योदात्तत्वस्य 'न गोश्वन्साववर्ण०' इति प्रतिषेधः। 'सुपां सुलुक्०' इति शर्मणः सप्तम्या लुक्। यद्यपि सावरणस्य ब्रह्माण्डस्य निषेधेन तदन्तर्गतमप्सत्त्वमपि निराकृतं तथापि 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्' इति श्रुत्या कश्चिदपां सद्भावमाशङ्केत। तं प्रत्याचष्टे अम्भः किमासीत् इति। गहनं दुष्प्रवेशं गभीरं दुरवस्थानमत्यगाधम् ईदृशम् अम्भः किमासीत्। तदपि नैवासीदित्यर्थः। श्रुतिस्त्ववान्तरप्रलयविषया॥[२२९]

---

२२९. ऋ० १० । १२९ । १

इस मन्त्र के दोनों भाष्यों में जहां बहुत सा अंश समान है, वहां पुष्कल अंश दोनों में भिन्न भी है, और दोनों के पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व का परिचायक है। दोनों भाष्यकार अद्वैतवाद और मायावाद के समर्थक हैं, और जगत् को अवास्तविक प्रातिभासिक मानते हैं; तथापि व्याख्यान और पदावली में तथा प्रतिपादनशैली में पर्याप्त अन्तर है। रावण संक्षेपप्रिय हैं, और सायण विस्तारवादी हैं। दोनों भाष्यों को साथ रख कर पढ़ने पर ऐसी कल्पना परिहेय नहीं है कि कदाचित् सायणभाष्य रावणभाष्य का विस्तृत और स्वतन्त्र लेखात्मक विस्तार हो। सायण ने व्याकरण और श्रुति के प्रमाण से अपने व्याख्यान को समृद्ध किया है, रावणभाष्य में दोनों का ही अभाव है।

१२०. इस मन्त्र के भाष्यों के असमान अंश में रावण की मान्यता है कि प्रलयावस्था में व्यवहार सत् और भासमान भूतसमूह भी नहीं थे। जगत् की उत्पत्ति सीपी में चान्दी के समान बीच में ही हो गई। उस समय काल भी न था। सम्पूर्ण दृश्यजात सदसद् से विलक्षण उपादान वाला प्रतिभासित होने वाला मात्र है। इस की प्रतीयमानता को ज्ञान द्वारा ही यह जान कर नष्ट किया जा सकता है कि दृश्यमान जगत् निर्बाध ब्रह्म में आच्छादक नहीं होता है। उस प्रलयावस्था में सदसद्विलक्षण विचित्र रूप अपने आश्रय का व्यामोहक न था। इन्द्रजाल द्वारा उत्पादित जल के समान ही मायाजन्य जल के बीच में सत् उत्पन्न हो गया। यह सत् कुहक—ऐन्द्रजालिक—[माया से प्रभावित ब्रह्म] का आच्छादक नहीं था।[२३०]

२३०. राभा०, पृ० २६–२७ पर प्रदत्त हिन्दी अनुवाद का भाव इस सार से स्पष्ट हो जायगा। वहां पृ० २७, पं० १ में (—जगत् ?) के स्थान पर (—माया से प्रभावित ब्रह्म ?) रखना कदाचित् रावण के भाव के अधिक समीप हो।

१२१. सायणभाष्य के असमान अंश में सायण मानते हैं कि प्रलयकाल में सत् आत्मा (—परमात्मा) के समान सत् के रूप में व्याख्येय न था। यद्यपि सत् और असत् दोनों रूप एक दूसरे से विलक्षण (—विरोधी गुण वाले और एक साथ न रह सकने वाले ? होते हैं, तथापि भाव और अभाव की युगपत् स्थिति हो सकती है। प्रलयकाल में इन दोनों का तादात्म्य था, जो दोनों के स्वरूप से विलक्षण और अव्याख्येय था। यहां पारमार्थिक सत्त्व का निषेध कर के भी 'आनीदवातम्' कह कर ब्रह्म की सत्ता और निर्वाच्यत्व का आगे विधान किया गया है। अतः केवल माया-जन्य (शब्दार्थ-माया के) सत् रूप का ही निषेध किया गया है। इस माया की तो व्यवहारदशा में भी पारमार्थिक सत्ता रहती है। उस समय आकाश के नीचे के पाताल से पृथिवीपर्यन्त लोक नहीं थे। चौदह भुवनों को गर्भ में धारण करने वाला ब्रह्माण्ड भी नहीं था। पुराणों में प्रसिद्ध उस (ब्रह्माण्ड) के आवरक वियद् आदि भूतों के अवस्थान प्रदेश भी न थे। आव्रियमाण के समान आवरक तत्त्व भी स्वरूप से नहीं था। आवरक तत्त्व का आधारभूत देश भी नहीं था। आवरण का निमित्त भोक्ता जीव हैं, क्यों कि सृष्टि इन के भोग के लिए है। उपाधि-जन्य ये भी प्रलय में उपाधि के विलय के कारण लीन हो जाते हैं। अतः भोक्ता जीव के सुखदुःख के साक्षात्कार रूप भोग के निमित्तरूप आवरक तत्त्व भी नहीं थे। भोग्य और भोक्ता-दोनों ही प्रपञ्च नहीं थे। अन्य श्रुतियों में प्रतिपादित अवान्तर प्रलय से सम्बन्धित दुष्प्रवेश दुरवस्थान अति अगाध जल भी उस काल में न था।

१२२. अतः दोनों भाष्यकारों के इन अंशों में महान् भेद है। यह भेद शर्मन्, कुहकस्य और अम्भः पदों के व्याख्यान में विशेष रूप से झलक रहा है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि दोनों

भाष्यों में समानता केवल पूर्वार्द्ध के व्याख्यान में ही है। उत्तरार्द्ध का दोनों का व्याख्यान भिन्न है।

१२३. अन्य मन्त्रों के भाष्यों में सायण और रावण पर्याप्त भिन्न हैं। सायण की दृष्टि याज्ञिक है तथा रावण की आध्यात्मिक और दार्शनिक। रावण की दृष्टि में विष्णु व्यापनशील परमात्मा है, जिस का पारमार्थिक सत्यज्ञानान्दात्मक अभिव्यक्ति स्थान मूर्धा में भ्रूमध्य में स्थित है, जिसे महानुभावजन नेत्रवत् विस्तृत कर सदा साक्षात्कार करते रहते हैं।[२३१] अष्टमति, दृश्यप्रपञ्च रूप दीर्घ स्वप्न से जागे हुए मेधावी जन इस अभिव्यक्ति स्थान को अभ्यास दशा में सुषुम्णा विवर के माध्यम से भ्रूमध्य में केन्द्रित दृष्टि से देखते हैं, और व्यवहार दशा में उसी को समस्त विषयों को प्रतीति के रूप में देखते हैं।[२३२]

१२४. सायण के मत में ऋत्विगादि विद्वान् विष्णु के शास्त्र-प्रसिद्ध स्वर्गस्थान को सदा शास्त्रदृष्टि से इस प्रकार देखते हैं जैसे आकाश में सब ओर फैली हुई आंख निरोधाभाव से विशद देखती है।[२३३] इस पद को विशेष रूप से स्तोता, शब्द और अर्थ में प्रमादहीनता के कारण जागरूक विप्र अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं।[२३४]

१२५. रावण के अनुसार मित्रवत् परम प्रेम के पात्र विषयों के ज्ञाता उपकारक और मित्र भूत परमात्मा से विमुख व्यक्ति की वाणी सत्यता से रहित होती है। उस की गप्पों में तो सत्य की सत्ता की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। उस का शास्त्रश्रवण झूठा है, वह सत्य ब्रह्म के मार्ग को नहीं जानता है। सायण के मत में

२३१. ऋ० १ । २२ । २०; राभा०, पृ० १; १७.

२३२. ऋ० १ । २२ । २१; राभा., पृ० १–२; १८.

२३३. ऋ० १ । २२ । २०; २३४. वही, मं० २२.

संप्रदाय के उच्छेद का निवारक होने के कारण वेद के उपकारी अध्येता को जानने वाले अध्ययनकर्त्ता पुरुषों के अपने अर्थ को ज्ञात कराने के कारण उपकारी मित्ररूप वेद को परार्थ में विनियुक्त न करने वाले[२३५] पुरुष की समस्त लौकिक और शास्त्रीय वाणी सेवनीय तत्त्व से हीन होती है। उस का वेदभिन्न समस्त श्रवण व्यर्थ ही होता है। श्रद्धा न होने से वह अनुष्ठान के मार्ग को नहीं जानता है। [२३६]

१२६. रावणभाष्य की दृष्टि में बुद्धि और मन के द्वारा मनोवेगों को निराकृत कर देने वाले, सब प्राणियों के परम सुहृत् ब्रह्मज्ञानी अन्तर्याग में 'मैं' और 'तुम' की भेदभावना को त्याग कर विद्या और अभिज्ञान की वृत्तियों से दोनों ओर से पदार्थों की प्रतीति (—सत्यज्ञान) रूप ब्रह्म के ज्ञाता हो एकमात्र अखण्ड रस रूप में व्यवहार करते हैं। ये ब्रह्मज्ञानी जन मनुष्य और देवलोकों में जन्म से विमुक्त हो ब्रह्मरूप हो जाते हैं। परन्तु जातिमात्र से विप्र और सोम का अभिषव करने वाले याज्ञिक फल की प्रतिपादक वेदवाणी को जान कर फल की आशा से यज्ञ आदि कर्मों को, कृषि कर्म को कृषकों के समान, सम्पन्न करने के कारण निकृष्टजन्मों को प्राप्त होते हैं। इन्द्रियों की सभा (—कार्यकलाप ?) या लौकिक व्यवहार पर आरूढ़ उपकारक जनों की प्राप्ति से सब प्राणियों के परम सुहृदों के समान परमात्मा की प्राप्ति से समस्त शरीरधारी जन्तु परम आनन्द में भर जाते हैं।[२३७]

---

२३५. मूलपद–" परार्थविनियोगेन परित्यजति " हैं।

२३६. ऋ० १० । ७१ । ६; रामा., पृ० ३–४; १९.

२३७. ऋ, १० । ७१ । ८–१०; रामा., पृ० ४–७; २०–२१.

१२७. सायण के अनुसार जब समान ख्यान वाले परिकल्पित गन्तव्य वेदार्थों में गुणदोषनिरूपण करने वाले ब्राह्मण बुद्धिमानों के हृदयों से संगत होते हैं, तो वे उस ब्राह्मणसंघ में अविज्ञात स्वरूप एकमात्र पुरुष को ज्ञातव्य विद्याओं या प्रवृत्तियों से त्याग देते हैं, परन्तु विद्याश्रुतिमतिबुद्धिलक्षण उह्यमान ब्रह्म के ज्ञाता विद्वान् इच्छानुसार वेदार्थों को निश्चित करने में प्रवृत्त होते हैं। इस लोक में ब्राह्मणों और देवों का संग न करने वाले जन वेदार्थ में तत्पर और सोम निकालने वाले ऋत्विज् नहीं बन पाते हैं। ऐसे अविद्वान् जन पापकारिणी लौकिक वाणी से युक्त हो कृषक हो कर कृषिकर्म में रत रहते हैं। समान ज्ञान वाले समस्त सभ्य जन सभा को सहने में समर्थ, ऋत्विजों के मित्र यज्ञ में आए हुए सोम से आनन्द प्राप्त करते हैं।[२३८]

१२८. इन व्याख्यानों में दोनों भाष्यकारों ने अह और त्वम् की व्युत्पत्ति और योजना भिन्न-भिन्न की है। दोनों ने लगभग सभी प्रमुख पदों का व्याख्यान और भाव भिन्न-भिन्न लिया हैं। दोनों में अन्वय का भी भेद है। समासों और पदों के व्याख्यान दृष्टिभेद से बदल गए हैं।

१२९. 'आविरभून्महि'[२३९] में रावण मानते हैं कि सम्पूर्ण जगत् को अज्ञान से छुड़ा देने वाले महान् परमात्मा के दक्षिणा के असीम फल के दायक मार्ग के द्रष्टा आचार्यों द्वारा प्रदत्त महत्त्व और ज्ञान प्रकट हो गए हैं। भाव यह है कि मोक्षार्थियों के लिए आत्मानात्मक दक्षिणा के मार्ग का फल असीम है। सायण के मत में यह दक्षिणा आत्मारूप न हो कर धनधान्य और पशुरूप याग में प्रातःकाल दी जाने वाली भौतिक स्थूल दक्षिणा है। इस मन्त्र में दक्षिणा और उस के दिए जाने के लिए सम्पाद्य यज्ञों के समय का

२३८. ऋ. १०।७१।८-१०.   २३९. ऋ. १०।१०७।१

वर्णन है। दक्षिणा याग का अंग है। याग दिन में ही करना चाहिए। इस लिए दक्षिणा के देने का समय सूर्योदय के बाद होता है। यही इस मन्त्र में वर्णित किया गया है।

१३०. चैत्र मास गत सूर्य का अपना महान् तेज यजमानों के याग की सिद्धि के लिए प्रकट हो गया है। इस कारण समस्त स्थावरजंगमात्मक जगत् अन्धकार से मुक्त हो गया है। देवों द्वारा प्रदत्त सूर्यरूप महान् प्रकाश हवियों के दान के लिए निकला है और सब, यजमानों ने याग की अंग दक्षिणा के दान के महान् मार्ग का अवलम्बन कर लिया है, अर्थात् सब यज्ञ कर के वे ऋत्विजों को दक्षिणा देते हैं।

१३१. यहां रावण ने माघोनम् को √ इन्द् धातु से निष्पन्न किया है, सायण ने इसे मघवा से सम्बद्ध किया है। पितृ रावण के मत में आचार्य हैं, सायण के मत में देवता। ज्योतिः को रावण ज्ञान का और सायण सूर्य के प्रकाश का द्योतक मानते हैं।

१३२. 'चतुष्कपर्दा युवतिः'[२४०] में रावण ने ज्ञान की आच्छादक चार उत्कर्षों वाली माया का और ईश्वर की प्रसिद्धि के ज्ञान के साधन का वर्णन माना है। यह माया सदैव जवान, अघटित को भी घटित करने में भली प्रकार कुशल, घी के समान मधुर प्रारम्भ वाली और परिणाम में विष तुल्य और ज्ञान के विपरीत स्वभाव वाली होने से उस की आच्छादक है। इस माया में सत् और असत् फल के वर्षक शोभन पतन वाले जीव और ईश्वर दो पक्षियों के समान बैठे हैं। जहां अर्थों के प्रकाश को आंख आदि इन्द्रियां धारण किए हुए हैं, (वहां) इस ज्ञान को छिपा देने वाली माया के पास से ईश्वर की विलक्षणता प्रकट हुई। रावणभाष्य का यह अन्तिम अंश सुस्पष्ट नहीं है।

---

२४०. ऋ० १०। ११४। ३

१३३. सायण ने यहां दो वैकल्पिक वर्णनों—वेदि और औपनिषदी वाक् की अवतारणा की है। वेदि चार कोनों वाली, स्त्रीरूप, शोभन अलंकारों वाली, घृतप्रधान हवियों वाली तथा ज्ञातव्य पदार्थों, कर्मों या स्तोत्रों की आच्छादक है। उस वेदि पर हवियों की वर्षा करने वाले सुपतन जाया और उस का पति अथवा यजमान और ब्राह्मण बैठते हैं। वहां अग्नि आदि देवता अपने-अपने भाग की हवियां प्राप्त करते हैं।

१३४. औपनिषदी वाक् के चार कपर्द नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं। वह तरुणी, नित्या, चमकते हुए वर्णों के अवयवों वाली और ज्ञानों की आच्छादक है। उस वाणी में जीव और परमात्मा—दो सुपर्ण बैठे हैं। इस वाणी से देवता (अपना-अपना) भाग प्राप्त करते हैं।

१३५. अपनी अद्वैतवादी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के अनुरूप रावण अगले मन्त्र 'एकः सुपर्णः स समुद्रम्'[२४१] में एक सुपर्ण ईश्वर का प्रतिपादन और सब कुछ से उस के तादात्म्य का वर्णन देखते हैं। वास्तव में शोभन पतन वाला आत्मा अकेला ही है। वही तिरोधान करने वाले प्रपञ्च में प्रविष्ट है और इस स्थूल प्रपञ्च रूप को जानता है। उस को परिपाक और बुद्धिरूपी मन से मैं ने अन्दर ही अन्दर देखा है। उसी प्रकार माया भी उस सुपर्ण को छोड़ती है और सुपर्ण उस माया को छोड़ता है। मन्त्र में यह दो बार कथन तादात्म्य का द्योतक है।

१३६. सायण ने यहां सुपर्ण के तीन वैकल्पिक भाव लिए हैं—(१) मध्यमस्थानीय देव (२) प्राणवायु और (३) परमात्मा। इन के अनुसार ही वे इस मन्त्र के तीन अर्थ प्रस्तुत करते हैं—

---

२४१. वही, मं.४

१३७. सब कामों मे असहाय सुपतन मध्यमस्थानीय देव अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हो कर समस्त भूतजात को अनुग्रह बुद्धि से देखता है। ऐसे देव को परिपक्व मन से समीप में ही मैं ने देखा है। जलों की निर्मात्री माध्यमिक वाणी उस का आस्वादन करती है, और वह इस वाणी का।

१३८. पंखों वाला और निराधार संचरण करने वाला प्राण-वायु अन्तरिक्ष में या प्रपञ्चजात में वायु आदि के रूप में प्रविष्ट है। वह इस समस्त लोक को ख्यापित करता है क्यों कि प्राण से जीवन प्राप्त करने वाले पुरुष ही लोक को ख्यापित करते हैं। उस (प्राण) देव को उपासक मैं ने परिपक्व ज्ञान वाले मन से समीप में ही अपने हृदय मे देखा है। वाक् उस प्राण में अन्तर्भूत है, क्यों कि सोने में प्राणव्यापार तो होता है, वाग्व्यापार दिखाई नहीं देता है।

१३९. परमात्मा के पक्ष में प्राणपक्षीय अर्थ पूरा घटता है। वहां प्राणवायु के स्थान पर परमात्मा पद रखना ही अभीष्ट है। सायण ने परमात्मा के पक्ष में चतुर्थ पाद की संगति का संकेत नहीं दिया है।

१४०. 'न मृत्युरासीदमृतम्' [२४२] का रावणभाष्य पर्याप्त संक्षिप्त सरल और सुबोध है--उस समय केवल स्वरूप वाले ब्रह्म में जन्म-मरण रूप बन्ध और मोक्ष नहीं थे। सूर्य के अभाव में रात और दिन के ज्ञान के अभाव रूप एक रस स्थिति के समान बिना प्राण के एक ही शुद्ध ब्रह्म था। वह नाम और गोत्र से हीन था। वह अपनी कल्पित की हुई माया से कर्त्ता रूप में हुआ—

२४२. ऋ०– १। १२९। २

विविध रूप हुआ सूत्रात्मा नाम का था। उस से भिन्न कुछ भी नहीं था। परे, आगे और अन्त में भी वही था।

१४१ इस मन्त्र का मूल अर्थ तो सायण का भी सरल और संक्षिप्त है—"उस समय मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी, रात और दिन का भेद भी नहीं था। वायुशून्य और आत्मा-वलम्बन से श्वास-प्रश्वास-युक्त केवल एक ब्रह्म था। उस के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।[२४३] परन्तु अपनी निबन्धात्मक व्याख्या से सायण ने इसे पर्याप्त विस्तृत और दार्शनिक जटिलता में उलझा हुआ- सा बना दिया है। प्रश्न उठाया गया है कि पहले वर्णित प्रतिसंहार (-प्रलय) का कोई प्रतिसंहर्ता तो होगा। वही मृत्यु है। उत्तर में कहते हैं कि मृत्यु न थी। यदि मृत्यु नहीं थी, तो तब उस के अभाव से सिद्ध प्राणियों का अवस्थान रूप अमरण होगा। उस के उत्तर में कहते हैं—तब अमृत नहीं था। उस प्रतिहार के समय में, जब सब प्राणियों का परिपक्व भोग का कारण समस्त कर्मसमूह भोगा जा चुका था, तब भोगों के अभाव से जगत् के निष्प्रयोजन हो जाने से परमेश्वर के मन में इस के संहार की इच्छा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार वह मृत्यु समस्त जगत् का संहार करती है. तो इस संहारकारी मृत्यु से क्या प्रयोजन है ? अथवा उस के अभाव से सिद्ध अमरण कैसे हो सकता है ? इस को लक्ष्य कर के कठसम्प्रदाय की श्रुति है—"ब्रह्म और क्षत्र उस के ओदन हैं। मृत्यु उस का उपसेचन (सब्जी दाल आदि) है। इस प्रकार कौन जानता है, जहां वह है।" हो सकता है कि इस सब का अधिकरण काल हो। अतः कहा है कि रात और दिन का प्रज्ञान न था क्योंकि इन के उत्पादक कारण सूर्य और चन्द्रमा का अभाव था। इस दिन और रात के निषेध के द्वारा तदात्मक (-उन से कल्पित) मास, ऋतु, संवत्सर

२४३. हि॰ऋ॰ पृ॰ १४२१

आदि समस्त काल का निषेध कर दिया गया है। फिर (तदानीम्) उस समय न सत् था—इस में कालवाची प्रत्यय का प्रयोग कैसे किया गया है। हमारा कहना है कि उपचार से। जैसे काल अब के निषेध का अवच्छेदक है, उसी प्रकार माया भी उस के अवच्छेद का कारण है, इस प्रकार अवच्छेदक होने की समानता से काल के अभाव में भी कालवाची प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। जो हम ने कहा था कि ब्रह्म की परमार्थ सत्ता आगे कही जायगी, वह अब दिखाते हैं कि सांस ले रहा था। वह सम्पूर्ण वेदान्त में प्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व सप्राण था। तो इस प्रकार प्राणकर्ता—सप्राण के जीवभाव को प्राप्त हुए ब्रह्म की सत्ता ही हो सकती है, विवक्षित निरुपाधिक ब्रह्म की नहीं। 'निःसन्देह प्राणरहित, मनरहित शुद्ध' इस श्रुति के अनुसार उस का प्राण से सम्बन्ध न होने के कारण इस विषय में कहा है कि सांस ले रहा था। यह भाव है। 'सांस ले रहा था' यहां तोन अर्थ मालूम पड़ रहे हैं—धातु की अर्थ की क्रिया, उस का कर्त्ता और उस का भूत काल से संबन्ध। वहां समुदाय का विधान अभीष्ट नहीं है, जैसे कि अग्नि के निमित्त पुरोडाश आठ कपालों वाला होता है, जिस से ब्रह्म की सत्ता न हो। तो क्या इस से कर्त्ता का कथन कर भूतकाल में सत्ता का द्योतक गुण विहित किया जा रहा है, दही से हवन करता है, इस अन्य वाक्य में विहित अग्निहोत्र के कथन से वहां गुण का विधान है। उस के निषेध की असंगति उत्पन्न हो जाने के कारण वहां भी इस से कर्ता के धर्म से युक्त पूर्व काल में सत्ता का विधान नहीं किया जा रहा है, अतः इस कर्त्ता के धर्म से अब के द्वारा निर्दिष्ट निरुपाधिक पर ब्रह्म को भूतकालिक सत्ता कही जा रही है, अतः कोई दोष नहीं है। तो इस प्रकार के ब्रह्म का माया के साथ संबन्ध असंभव होने के कारण सांख्य मत को अभिमत स्वतन्त्र, सत् रूप, सत्त्व रजस् और तमस् गुण रूप मूल

प्रकृति ही अभीष्ट है तो 'न सत् था' यह निषेध कैसे संगत होता है। कहते हैं कि स्वधा से। अपने में स्थापित किया जाता है, धारण किया जाता है, आश्रय ले कर वर्तमान है। अतः स्वधा माया है। उस के द्वारा वह ब्रह्म एक अविभक्त है। 'सह से युक्त होने पर अप्रधान में' (तृतीया होती है, इस पाणिनि के नियम से) सह शब्द का योग न होने पर भी युवन् के साथ वृद्ध' इस में निपातन से ज्ञापित होने के कारण सह का अर्थ व्यक्त होने पर भी तृतीया होती है। यहां प्रकृति और प्रत्यय से उस (माया) की स्वतन्त्रता का निवारण किया गया है। यद्यपि संगहीन ब्रह्म का उस के साथ संबंध संभव नहीं है, तथापि उस में अविद्या से उस के स्वरूप के समान संबन्ध का भी अध्यास सीपी में चान्दी के समान होता है। इस से उस के सद्रूप का भी खण्डन हो गया। तो यदि माया ब्रह्म के साथ अविभाग वाली है तो उस के अनिर्वचनीय होने के कारण ब्रह्म का भी उस से प्रसंग है, तो 'सांस ले रहा था' उस की यह सत्ता कैसे बताई है। अथवा ब्रह्म की सत्ता के कारण उस की सत्ता का भी प्रसङ्ग है तो 'न सत् था' यह सत्ता का प्रतिषेध कैसे किया है। ऐसा नहीं हैं। युक्ति के अभाव की दृष्टि से ऐक्य का आभास होने पर भी युक्ति से विवेचन कर माया के अंश का अनिर्वाच्य रूप और ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। अगर यह माना जाए कि 'सांस ले रहा था', और 'माया से' ये दोनों पदार्थ आंख से दृश्य हैं तो और क्या बच जाता है जो 'न रजः था' इत्यादि से प्रतिषेध किया जा रहा है। वहां कहते हैं कि उस से। निश्चय ही उस पूर्वोक्त मायासहित ब्रह्म से अन्य और कुछ भी वस्तुभूत भौतिक रूप जगत् न था। 'छन्द में दोनों प्रकार से' इस से लिट् के सार्वधातुक होने के कारण √ अस् को √ भू भाव नहीं हुआ है। यदि तब दूसरे की सत्ता के निषेध की शंका न की जाए, तो सत्ता न होने पर अप्रसक्त होने के

कारण निषेध का कोई लाभ नहीं, इस लिए कहा है कि 'आगे, परे' सृष्टि के पश्चात् वर्तमान यह जगत् उस समय न था। नहीं तो बताए हुए ढंग से कहीं भी निषेध न होगा' यह भाव है।"

१४२. सायण के इस भाष्य से रावण के भाष्य का वैषम्य सुव्यक्त हो जाता है। वेदार्थ को समझने के लिए तो इतने लम्बे निबन्ध की कोई आवश्यकता न थी, और इस के मूल अंश को छोड़ कर शेष सब का परिहार किया जा सकता था। दार्शनिक दृष्टि के अवबोधार्थ वेदभाष्य से बाहर स्वतन्त्र निबन्ध का प्रणयन सम्भवतः उचित माना जाता। इस भाष्य में प्रकाशित विचारधारा से रावण का विरोध नहीं है, प्रत्युत एकरूपता या तादात्म्य है।

१४३. रावण और सायण के भाष्यों की इस तुलना और विवेचन से उन दोनों का भिन्न तथा अलग-अलग प्रवृत्ति वाला होना सुनिश्चित है। ह० ग० नरहरि ने रावण को सायण का परवर्ती रक्खा है। परन्तु उपर्युक्त तुलना में रावण को पूर्ववर्ती मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। दयानन्द ने भी अपने लेख में रावण को सायण से पूर्व पढ़ा है। रावण की नकल करने पर भी सायण का अपना व्यक्तित्व है और वेदभाष्य तथा वेदविषय को उन की देन है। यदि रावण परवर्ती हों, तो यह उक्ति उन पर लागू होगी।

१४४. सायण के विस्तृत और विशालकाय भाष्य में पहले अष्टक में व्याकरण और स्वर आदि के विवेचन और शास्त्रग्रन्थों से उद्धरण पर्याप्त मात्र में मिलते हैं।[२४४] उस ने निर्वचन भी पर्याप्त

---

२४४. वेभाआअ० ७। १०१अ, पृ० ३९

मात्रा में दिए हैं, जो सामान्यतः यास्क से लिए गए हैं।[२४५] रावण में यह समृद्धि अल्प है।

१४५. सायण का यजुर्वेद और अथर्ववेद पर भी भाष्य है। वहां भी रावणभाष्य में व्याख्यात कुछ मन्त्रों पर भाष्य मिलता है। यजुर्वेद[२४६] में 'तद्विष्णोः'[२४७] का विनियोग उवट-महीधर के अनुरूप है। भाव में भी साम्य है, परन्तु व्याख्यान में संक्षेप है और वह शब्दानुवाद मात्र है— वेदान्तपारग विद्वान् आकाश में बाहर आवरण में फैले हुए चक्षु के समान व्याप्त विष्णु के उस परम स्वरूप को सदा देखते हैं। 'किं स्विदासीदधिष्ठानम्'[२४८] का भाष्य भी महीधर के समान है। महीधरभाष्य को इस का विस्तृत रूप कहा जा सकता है।[२४९]

१४६. 'तद्विष्णोः'[२५०] मन्त्र का अथर्ववेद में व्याख्यान कुछ भिन्न है—मेधावी सब के चक्षुःस्थानीय द्युलोक में सब ओर विस्तारित सूर्यमण्डल के समान व्यापक देव के प्रसिद्ध अथवा पूर्वोक्त उत्कृष्ट अथवा पूर्ण सर्वत्र प्रकाशस्वरूप स्थान या ज्ञातव्य तत्त्व को सदा देखते हैं।[२५१]

१४७. ऐतरेयब्राह्मण के भाष्य मे[२५२] सायण ने 'सर्वे नन्दन्ति यशसा'[२५३] मन्त्र को सोमपरक लेते हुए 'सभी यजमान आदि यश के हेतु, समीप आए विद्याप्रसंग में विद्वत्सभा को जीतने वाले सोम रूप मित्र से प्रसन्न होते हैं' किया है। यद्यपि सायण ने यहां विनियोग नहीं दिया है, तथापि ब्राह्मण का भाष्य देने के कारण ब्राह्मणगत विनियोग उन्हें भी अभीष्ट है।

२४५. वही, ७ । १०७, पृ० ४४

२४६. काय० साभा०, ६ । ६, पृ० ८०

२४७. ऋ० १ । २२ । २०

२४८. ऋ० १० । ८१ । २

२४९. काय०, साभा०, १८ । १८, पृ० १४०-१४१ देखें।

२५०. ऋ० १ । २२ । २०

२५१. अवे० ७ । २६ । ७

२५२. ऐ० १ । १३

२५३. ऋ० १० । ७१ । १०

दयानन्द सरस्वती

१४८. दयानन्द का जन्म १८२४ ई० में एक धर्मपरायण सामवेदी औदीच्य परिवार में हुआ था। सच्चे शिव की खोज में घर त्याग कर संन्यासी बन अनेक कष्ट सहन करते हुए योग और वेदमार्ग का ज्ञान प्राप्त किया। अपने गुरु विरजानन्द की आज्ञा से देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक अभ्युत्थान में अपनी समस्त शक्ति लगाई। फलतः इन की विचारधारा और रचनाओं में तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव सुलक्षित होता है। इन पर मध्व सम्प्रदाय के दर्शन की छाप है। मध्व के समान ये भी ईश्वर और जीव को पृथक् मानते हैं और शंकर के मायावाद और अद्वैतवाद से असहमत हैं। इन का भाष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक है, तथा लौकिक आदर्शों और सदाचार का प्रचारक है।

१४९. रावण द्वारा व्याख्यात १३ ऋचाओं में से दयानन्द सरस्वती ने ऋ० १।२२।२०; २१; और १।१६४।२० पर ऋग्वेदभाष्य तथा अन्य रचनाओं में, और ऋ० १०।८१।२ पर यजुर्वेद १७।१८ के भाष्य और आर्याभिविनय १७ में, तथा ऋ० १०।१२९।१; २ पर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भाष्य लिखा है।

१५०. 'तद्विष्णोः परमं पदं' [२५४] के व्याख्यान में दोनों ने ही विष्णु को सर्वव्यापक परमात्मा माना है, जिसे विद्वज्जन साक्षात् करते हैं। 'दिवि' के व्याख्यान में दोनों में मतभेद है। रावण ने इस का अर्थ 'मस्तक में भौंओं के बीच' और दयानन्द ने 'सूर्यादि के प्रकाशक के समान विमल ज्ञान से अथवा अपनी आत्मा में' किया है। रावण ने इस दर्शन में षट्कमलों के सिद्धान्त को

---

२५४. ऋ. १।२२।२०

आधार माना है। उस ने अपनी पुष्टि में ऋ० १०। ६०। ३ को उद्धृत किया है। परन्तु इस मन्त्र से भाष्यकार के मत की पुष्टि नहीं होती है। दयानन्द सरस्वती ने अन्यत्र गंगा और यमुना के व्याख्यान में इडा पिंगला आदि नाड़ियों के सिद्धान्त को अपनाया है।[२५५] उन्हों ने कुछ अन्य मन्त्रों का भी योगपरक भाष्य किया है, परंतु यहां पर इस दर्शन का कोई पुट प्रतीत नहीं होता है। 'चक्षुराततम्' के पदार्थों में साम्य है, भाव में कुछ-कुछ भेद है। रावण का अर्थ— विद्वान् अपनी दृष्टि को मानो फैला कर देखते हैं' और दयानन्द का 'फैले हुए नेत्रों के समान (विष्णु का पद है)' हैं। दयानन्द का भावार्थ यह है—'जैसे प्राणी सूर्य के प्रकाश में शुद्ध नेत्रों से मूर्तिमान् पदार्थों को देखते हैं। वैसे ही विद्वान् लोग निर्मल विज्ञान से विद्या वा श्रेष्ठ विचारयुक्त शुद्ध अपने आत्मा में जगदीश्वर को सब आनन्दों से युक्त और प्राप्त होने योग्य मोक्षपद को देख कर प्राप्त होते हैं। इस की प्राप्ति के बिना कोई मनुष्य सब सुखों को प्राप्त होने में समर्थनहीं हो सकता। इस से इस को प्राप्ति के निमित्त सब मनुष्यों को निरन्तर यत्न करना चाहिए।'[२५६]

१५१. 'तद्विप्रासो विपन्यवः'[२५७] के व्याख्यान में सामान्यतः एकरूपता है। रावण ने 'विप्रासः' का अर्थ 'श्रेष्ठ मति वाले' और 'विपन्यवः' का 'मेधावी (जन)' किए हैं। दयानन्द ने निरुक्तिप्रधान अर्थ लिया है—'अनेक प्रकार के जगदीश्वर के गुणों की प्रशंसा करने वाले'। रावण ने 'जागृवांसः' का व्याख्यान अद्वैतमतानुकूल 'दृश्य प्रपंच रूप दीर्घ स्वप्न से प्रबुद्ध हुए' किया है। दयानन्द शंकर के इस प्रभाव से मुक्त हैं। ये ईश्वर और जीव को पृथक्-पृथक् अनादि सनातन सत्ता मानने के कारण इस

२५५. ऋभाभू० पृ० ३७६

२५६. ऋदभा० १। २२। २०, भावार्थ हिअ०।

२५७. ऋ० १। २२। २१

पद का अर्थ संस्कृत पदार्थ में जागरूक, संस्कृत भावार्थ में 'अविद्या और अधर्म के आचरण रूप निद्रा को छोड़ कर धर्माचरण में जागृत' और हिन्दी पदार्थ में 'सत्कर्म में जागृत' करते हैं।

१५२ 'द्वा सुपर्णा' मंत्र[२५८] को रावण अद्वैत परक लगाते हैं। जीव और परमात्मा में तादात्म्य सम्बंध है। इस कारण ही वे समान प्रवृत्ति और स्फुरण वाले हैं--रूप और प्रकाश वाले हैं। जीव पक्षिस्थानीय क्षेत्रज्ञ है। दयानन्द जीव और परमात्मा का व्याप्य-व्यापक सम्बंध मानते हैं। वे दोनों सुन्दर पंख वाले, समान सम्बंध वाले और मित्रों के समान वर्तमान हैं। अपने भाव को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—'अर्थात् सुन्दर चलने फिरने वा क्रियाजन्य काम को जानने वाले व्याप्य–व्यापक भाव से साथ ही सम्बंध रखते हुए मित्रों के समान वर्तमान जीव और ईश—जीवात्मा समान कार्यकारण रूप ब्रह्माण्ड देह का आश्रय करते हैं। दोनों अनादि जीव ब्रह्म में जो जीव है, वह पाप पुण्य से उत्पन्न सुख-दुःखात्मक भोग को स्वादुपन से भोगता है और दूसरा ब्रह्मात्मा कर्मफल को न भोगता हुआ उसे भोगते हुए जीव को सब ओर से देखता अर्थात् साक्षी है।[२५९] भावार्थ में दयानन्द सरस्वती जगत् में तीन अनादि और नित्य पदार्थ मानते हुए उन का पारस्परिक सम्बंध इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—'जीव परमात्मा और जगत् का कारण—ये तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं। जीव और ईश परमात्मा यथाक्रम से अल्प अनंत चेतन विज्ञानवान् सदा विलक्षण व्याप्यव्यापक भाव से संयुक्त और मित्र के समान वर्तमान हैं। वैसे ही जिस अव्यक्त परमाणुरूप कारण से कार्यरूप जगत् होता है, वह भी अनादि और नित्य है। समस्त जीव पाप पुण्यात्मक कार्यों को कर के उन के फलों को भोगते हैं,

२५८. ऋ० १।१६४।२०
२५९. वही, दया० हि० अ०।

और ईश्वर एक सब ओर से व्याप्त होता हुआ न्याय से पाप–पुण्य के फल को देने से न्यायाधीश के समान देखता है।"[२६०]

१५३. दोनों भाष्यकारों की दृष्टि में यह भेद सर्वत्र ही लक्षित होता है। रावण ने 'वृक्षम्' को अस्पष्ट ही छोड़ दिया है। दयानन्द ने इसे कार्यकारण नामक प्रकृति रूप स्वतन्त्र और नित्य सत्ता माना है–'जीवेशजगत्कारणानि त्रयः पदार्था अनादयो नित्याः सन्ति।[२६१] तथा 'यो वृश्च्यते छिद्यते तं कार्यकारणाख्यं वा'।[२६२]

१५४. रावण मानते हैं कि 'किं स्विदासीद्'[२६३] मन्त्र में 'किं स्वित्' और 'कतमत्' पदों का प्रयोग निषेध में पर्यवसित होता है और 'किं स्वित्' का अर्थ 'कुछ नहीं' है। उस के भाष्यानुसार द्युलोक और पृथिवीलोक पैदा करने के समय न संसार का अधिष्ठान=आश्रय था, न आरम्भण=उपादान कारण था। सब के द्रष्टा परमात्मा ने अपनी सामार्थ्य से ही पृथिवी और द्युलोकों की रचना की, क्यों कि तब न सत् था, न असत्। सत् होता तो अद्वैत का नाश हो जाता, और यदि असत् होता, तो वह द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों का ही उपादान कारण नहीं बन सकता था।

१५५. दयानन्द सरस्वती ने पहले दो पादों में प्रश्नों की सत्ता मानी है,[२६४] और अन्तिम दो पादों में उन के उत्तर हैं। ये अधिष्ठान का अर्थ 'आधार,' आरम्भण का 'इस कार्यजगत् की रचना का आरम्भ कारण,' कतमत् का 'बहुत उपादानों में क्या' किया है। "(विश्वकर्मा) सब सत्कर्मों वाला (विश्वचक्षाः) सब

२६०. वही, भावार्थः, हिअ०।

२६१. वही, भावार्थः (संस्कृत)

२६२. वही, सं० पदार्थः   २६३. ऋ० १०।८१।२

२६४. यदभा० १७।१८; आअवि० पृ० २१६.

जगत् का द्रष्टा जगदीश्वर पृथिवी और (द्याम्) सूर्यादि लोकों को उत्पन्न करता हुआ अपनी महिमा से विविध प्रकार से आच्छादित करता है"। आर्याभिविनय में इस का विस्तार करते हुए लिखा है—"(प्रश्नोत्तर विद्या से) इस संसार का अधिष्ठान क्या है? कारण तथा उत्पादक कौन है? किस प्रकार से है? तथा रचना करने वाले ईश्वर का अधिष्ठानादि क्या है? तथा निमित्त कारण और साधन जगत् वा ईश्वर के क्या हैं? (उत्तर) "यतः" जिस का विश्व (जगत् कर्म) किया हुआ है, उस विश्वकर्मा परमात्मा ने अनन्त सामर्थ्य से इस जगत् को रचा है। वही इस सब जगत् का अधिष्ठान, निमित्त और साधनादि है। उस ने अपने अनन्त सामर्थ्य से इस सब जीवादि जगत् को यथायोग्य रचा और भूमि से ले के स्वर्गपर्यन्त रच के स्वमहिमा से "और्णोत्" आच्छादित कर रक्खा है। और परमात्मा का अधिष्ठानादि परमात्मा ही है अन्य कोई नहीं। सब का भी उत्पादन, रक्षण, धारणादि वही करता है, तथा आनन्दमय है। वह ईश्वर कैसा है? कि "विश्वचक्षाः" सब संसार का द्रष्टा है। उस को छोड़ के अन्य का आश्रय जो करता है वह दुःखसागर में क्यों न डूबेगा"।[२६५] यजुर्वेदभाष्य में भावार्थ में भी यही स्वर मिलता है—"हे मनुष्यो तुम को यह जगत् कहां वसता, क्या इस का कारण और किस लिए उत्पन्न होता है, इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि जो जगदीश्वर कार्यजगत् को उत्पन्न तथा अपनी व्याप्ति से सब का आच्छादन करके सर्वज्ञता से सब को देखता है वह इस जगत् का आधार और निमित्तकारण है, वह सर्वशक्तिमान् रचना आदि के सामर्थ्य से युक्त है, जीवों को पाप पुण्य का फल देने भोगवाने के लिए इस सब संसार को रचा है, ऐसा जानना चाहिए।"[२६६]

२६५. आआवि० पृ० २१६–२१८

२६६. यदभा. १७।१८ का भावार्थ, हिअ०।

१५६. नासदीय सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों[२६७] के व्याख्यान में रावण ने 'असत्' का अर्थ 'खरगोश के सींगों के समान रूपहीन असत् नाम', दयानन्द ने 'शून्याकाश'; 'सत्' का रावण ने 'व्यवहार सत्', दयानन्द ने 'प्रकृति रूप अव्यक्त सत्संज्ञक जगत् का कारण'; 'रजः' का रावण ने 'लोक', दयानन्द ने 'परमाणु' किया है। रावण ने 'व्योम' को 'व्योम्नः' का और 'परः' को 'परस्तात्' का वाचक मानते हुए 'व्योम से परे द्यु लोक से सत्य लोक पर्यन्त लोक' भाव ग्रहण किया है। उस ने 'कुहकस्य' का अर्थ 'ऐन्द्र-जालिक' और दयानन्द ने 'वर्षाकाल में धूमाकार बरसा हुआ कुछ-कुछ शेष वर्तमान जल' अर्थात् कुहरा किया है।

१५७. रावण का इन मन्त्रों का भाव यह है कि यहां इस सृष्टि से पहले की समस्त प्रपञ्चों से रहित लय की स्थिति का वर्णन है। प्रलयावस्था में वर्तमान इस जगत् का मूल कारण शशविषाणवत् रूपहीन असत् नहीं था क्यों कि उस से इस जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती थी। पारमार्थिक सत् को परमात्मा से भिन्न सत् मानने पर द्वैत भाव हो जाता है, परन्तु है अद्वैत भाव। अतः व्यवहार सत् भी नहीं था क्यों कि आगे व्यवहार का अभाव बताया गया है। इस कारण दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय—अव्याख्येय ही था। तब पृथिवी आदि के अभाव से व्यावहारिक सत्ता भी नहीं थी। अन्तरिक्ष और उस से परे द्यु लोक आदि सत्य लोक पर्यन्त कुछ भी नहीं था। अतः यह ब्रह्माण्ड—भासमान भूतों का समूह नहीं था, बल्कि सीपी में चांदी के समान बीच में ही उत्पन्न हो गया। उस समय काल का लेश भी न था। सत् और असत् दोनों से भिन्न विलक्षण उपादान प्रतिभासित हो रहा था। पहले कहा हुआ दिखाई पड़ने वाला जगत् निर्बाध ब्रह्म में आच्छादक नहीं था—सत् और असत् से भिन्न विचित्र रूप अपने

---

२६७. ऋ. १०। १२९। १-२

आश्रय का व्यामोहक न था। ऐन्द्रजालिक के (जादू से प्रकट किए हुए) गहन और अक्षोभ्य जल के समान उस विलक्षण निर्बाध ब्रह्म से माया द्वारा रचा हुआ जल के बीच में ही उत्पन्न सत् कुहक (—जगत् ?) का आवरक नहीं था।

१५८. दयानन्द के भाष्य के अनुसार "जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी। उस समय (असत्) शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था, क्यों कि उस समय उस का व्यवहार नहीं था।........ उस काल में (सत्) अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहलाता है, वह भी नहीं था। ....उस समय परमाणु भी नहीं थे। तथा............विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है, सो भी नहीं था।............जो यह वर्तमान जगत् है, वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता और उस से अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता। जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता है, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता और न वह कभी गहरा वा उथला हो सकता है। इस से क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उस का बनाया जगत् है, सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है।"[२६८]

१५९. दयानन्द ने दूसरे मन्त्र 'न मृत्युरासीद्'[२६९] के केवल प्रथम पाद का ही व्याख्यान प्रस्तुत किया है—" जब जगत् नहीं था, तब मृत्यु भी नहीं था, क्यों कि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न हो के वर्तमान हो, पुनः उस का और शरीर आदि का वियोग हो, तब मृत्यु कहावे, सो शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न ही

२६८. ऋभासू०, पृ. १४८–१४९

२६९. ऋ. १०। १२९। २

नहीं हुए थे" ।[२७०] शेष अंश को सुगम कह कर और भाष्य में व्याख्यान करने को प्रतिज्ञा कर छोड़ दिया है। परन्तु कालवश ये ऋग्वेद के इस अंश का भाष्य नहीं लिख पाए।

१६०. रावण ने इस पूरे मन्त्र का अर्थ दिया है।[२७१] इस अंश के भाष्य में वे लिखते हैं कि उस समय केवल स्वरूप वाले ब्रह्म में जन्म मरण रूप बन्ध और मोक्ष नहीं था।

१६१. इस तुलना से यह भलीभान्ति समझा जा सकता है, कि यदि इन दोनों भाष्यकारों के अद्वैत और द्वैत के भेद को पृथक् कर दिया जाए, तो दोनों एक ही धरातल पर आ जाते हैं। अद्वैत और माया के वादों के प्रमुख प्रचारक शंकराचार्य हुए हैं। इन का प्रभाव आठवीं ईस्वी सदी से निरन्तर चला आ रहा है। शंकर ने यह मत नीतिवश बौद्धों और जैनों के उच्छेदनार्थ अपनाया हो सकता है, परन्तु उन के अपने लेखों में इस आशय का लेख न होने तथा शंकरपीठों के प्रभाव और इन वादों की रोचकता और किन्हीं धाराओं में अकाट्य-सी प्रतिभासित युक्तियों की चकाचौंध में विद्वान् अपने को इन वादों की परिधि से बाहर न निकाल सके। फिर रावण ही इस के अपवाद कैसे होते? अतः उन्हों ने पद-पद पर इस मत को प्रकाशित किया है। परन्तु दयानन्द इन मतों में सार न देख पाए। उन्होंने लिखा है कि 'जो जीव ब्रह्म की एकता जगत् मिथ्या शंकराचार्य का निज मत था, तो वह अच्छा मत नहीं, और जो जैनियों के खण्डन के लिये उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।"[२७२] इस भेद ने ही दोनों के भाष्यों को भाव और भाषा के उस क्षेत्र में पहुँचा दिया है, जिस में दोनों में कोई मिलन-स्थान और ऐक्य बिन्दु खोजने असम्बद्ध प्रतीत होते

---

२७०. ऋभाभू०, पृ० १४९.

२७१. राभा, पृ० १३; २७. २७२. सप्र०, पृ० १९९-२००

हैं। दयानन्द के भाव और व्याख्यान स्पष्ट, विशद और सीधे हैं, रावण के भाव कुछ जटिल, भाषा के जाल में ग्रसित और अपने विचारों और दृष्टि से मन्त्रों के व्यक्तित्व के आच्छादक प्रतीत होते हैं। कुछ भी हो, जिन मन्त्रों में मायावाद और अद्वैत का प्रसंग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में परोक्ष में भी नहीं है, उन में सम्भवतः दोनों भाष्यकारों में दो-चार शब्दों के अर्थों या निर्वचन आदि के नगण्य भेद के अतिरिक्त सर्वत्र साम्य ही मिलता। सम्भव है इन के पदपाठ से, यदि वह मिल जाए, तो कुछ और प्रकाश इस धारा में प्राप्त हो सके।

१६२. दोनों ही भाष्यकार बहुश्रुत और वेदवेदांगों के ज्ञाता और प्रयोक्ता हैं। दोनों को निरुक्त और व्याकरण का यथावश्यक बोध है। रावण ने श्रुति आदि अनेक ग्रन्थों में से अपनी पुष्टि में प्रमाण दिए हैं, दयानन्द के भाष्य में प्रारम्भ में तो ये मिलते हैं, परन्तु धीरे-धीरे विरल और विरलतर होते गए हैं। निरुक्तियों में ये एक-दूसरे के समकक्ष हैं, व्याकरण के भी दोनों पण्डित हैं। परन्तु रावण द्वारा उद्धृत अनेकों कृतियों को दयानन्द ने अप्रामाणिक, मनुष्यरचित और त्याज्य माना है। अपने भाष्य में ऐसे ग्रन्थों में से उन्हों ने कोई उद्धरण नहीं दिया है। दोनों ही दार्शनिक और अध्यात्मवादी हैं।

ग्रिफिथ

१६३. ग्रिफिथ का अनुवाद आधुनिक सम्प्रदाय में विशेष स्थान रखता है। इन की दृष्टि न आध्यात्मिक है, न याज्ञिक, न दार्शनिक और न सांस्कृतिक। यह भाषावैज्ञानिक कही जा सकती है। इन्हों ने चारों वेदसंहिताओं का अनुवाद किया है। विभिन्न स्थलों पर आए हुए एक मन्त्र का अनुवाद और टिप्पणियां सर्वत्र एक ही दिए गए हैं। अतः ऋग्वेद के अनुवाद के आधार पर ही यहां तुलना प्रस्तुत की जाती है।

१६४. ग्रिफिथ के अनुवाद का मूल आधार सायणभाष्य है। ये उस के याज्ञिक और व्याकरणविषयक व्याख्यानों तथा अन्य विवेचनों का परिहार करते हुए यत्र-तत्र भाषाविज्ञान द्वारा प्रतिपादित पदों के मूल अर्थों का प्रयोग करते हैं। अतः सामान्यतः इन का भेद कतिपय पदों के अर्थ में ही है। साथ ही सायण द्वारा दी गई पदों की व्याख्या भी इन्हों ने छोड़ दी है। इन का रावण-भाष्यगत मन्त्रों का टिप्पणियों के भाव से युक्त अनुवाद हिन्दी में इस प्रकार है—

१६५. "यज्ञ के समर्थक धनिक राजा विष्णु के उच्चतम स्थान को, स्वर्ग में फैलाई हुई आंख के समान सदा देखते हैं।[२७३] विष्णु के इस परम उदात्त स्थान को गायक, सदा सावधान (विजिलेण्ट), पवित्र गीतों के प्रेमी, चमकाते हैं।"[२७४]

१६६. "दो सुन्दर पंखों वाले, मैत्री के बन्धन में जुड़े हुए पक्षियों ने एक ही आश्रयस्थान वृक्ष पर आश्रय पाया है। उन दोनों में से एक पीपल के मीठे फल को खाता है, दूसरा न खाते हुए केवल देखता है। सायण के मत में ये दो पक्षी एक शरीर में रहने वाले जीव और परमात्मा हैं। जीवात्मा फल को या कर्मों के फल को भोगता है, जब कि परमात्मा केवल शान्त द्रष्टा है।"[२७५]

१६७. "मैत्री की सत्यता को जानने वाले अपने प्रिय मित्र को जिस ने छोड़ दिया है, उस का वाक् में कोई भाग नहीं है। यदि वह उस को सुन लेता है, तो वह उसे व्यर्थ सुनता है। वह पुण्य के मार्ग को नहीं जानता है"।[२७६]

---

२७३. ऋ० १।२२।२०
२७४. वही, मं० २१
२७५. ऋ. १।१६४।२०
२७६. ऋ. १०।७१।६

१६८ "जब मैत्रीपूर्ण ब्राह्मण हृदय द्वारा बनाए हुए मानसिक भाव के साथ यज्ञ करते हैं, वे अपनी उपलब्धियों से एक को बहुत पीछे छोड़ देते हैं, और कुछ ब्राह्मण गिने जाने वाले अन्यत्र भटकते हैं। म्यूर ने (इस अन्तिम अंश का अनुवाद) 'दूसरे अपने को ब्राह्मण होने का दावा करते हुए घूमते हैं' किया है"।[२७७]

१६९. "वे जन जो न पीछे गति करते हैं, न आगे; न ब्राह्मण हैं, न हवि तय्यार करने वाले है; पापयुक्त रूप में वाक् प्राप्त कर वृद्धा कुंवारी के समान अज्ञान में अपना धागा कातते हैं। सिरीः केवल यहीं आया है। म्यूर के अनुसार प्रो० औफ्रेख्ट के मत में इस का अर्थ जुलाही है। आगे पीछे गति न करने वाले वे हैं जो धर्म-कार्यों में सक्रिय भाग नहीं लेते हैं।"[२७८]

१७०. "सभा को जीत कर, विजयोल्लास में आने वाले मित्र से सब मित्र हर्ष से भर जाते हैं।"[२७९]

१७१. "वह कौन सा स्थान था जहां वह ठेरा ? उस का सहारा क्या था ? यह कैसा था ? जब सब को देखते हुए, पृथिवी को उत्पन्न करते हुए विश्वकर्मा ने महान् शक्ति से स्वर्ग को व्यक्त किया"।[२८०]

१७२. "इन मनुष्यों का महान् पारितोषिक प्रकट हो गया है। और प्राण वाला सब संसार अन्धकार से छूट गया है। पितरों द्वारा हमें सानुग्रह दिया गया महान् प्रकाश आ गया है।

---

२७७. वही, मं० ८

२७८. ऋ. १०।७१।९. यहां ग्रिहिऋ० द्वारा पाटि० ९ में प्रदत्त विल्सन का अर्थ नहीं दिया गया है।

२७९. ऋ. १०।७१।१०

२८०. ऋ. १०।८१।२

शुल्क का विशाल मार्ग सुव्यक्त हो गया है। ये मनुष्य यज्ञ के धनी संचालक हैं। पितर वे हैं जो प्रकाश के आगार और रक्षक हैं।"[२८१]

१७३. "सुन्दर रूप, चार जूड़ों वाली, तेल से चमकती हुई जवान नियमों को धारण करती है। दो परम शक्तिशाली पक्षी उस के पास बैठे हैं, वहां जहां देवता अपना भाग प्राप्त करते हैं। यहां वेदि को स्त्री कहा गया है। सायण के मत में चार कपर्दों वाली का अर्थ चार कोनों वाली है। वह यज्ञ के लिए विहित रूप मे वस्त्रपरिधानयुक्त या योजनाबद्ध है। दो पक्षी सम्भवतः अग्नि और सोम हैं। सायण के अनुसार ये दो सुपर्ण यजमान और उस की पत्नी, अथवा यजमान और ब्रह्मन् हैं।"[२८२]

१७४. "इन दोनों पक्षियों में से एक वायु के समुद्र में पहुंच गया है। वहां से वह चारों ओर देखता और इस समस्त विश्व का अवलोकन करता है। सरल हृदय से मैं ने उसे समीप से देखा है। उस की माता उस को चूमती है, और वह उस को चूमता है। एक : सूर्य रूप में अग्नि। उस की माता : सम्भवतः जैसा प्रो० ल्यूड्विग कहते हैं, उषस्"।[२८३]

१७५. "तब न अभाव था न भाव। वहां न वायु का प्रदेश था, न उस के परे आकाश। क्या ढके हुए था ? और कहां ? और क्या आश्रय दे रहा था ? क्या वहां जल था, जल की अथाह गहराई ? अभाव : जो अभी वास्तव में सत्ता में नहीं है, परन्तु जिस में सत्ता में आने की शक्ति निहित है"।[२८४]

---

२८१. ऋ. १०। १०७। १ २८२. ऋ. १०। ११४। ३

२८३. ऋ. १०।११४।४

२८४. ऋ. १०। १२९। १. पाटि० में ग्रिफ्रिथ. ने सायण के असत् के व्याख्यान का अंग्रेजी में सार भी दिया है।

१७६. "तब मरण न था, न ही वहां अमरता थी। वहां दिन और रात के विभाजक का कोई चिह्न न था। वह एक वस्तु, सांस से हीन, अपने स्वभाव से सांस ले रहा था: इस से पृथक् कुछ भी न था। वह एक वस्तु: एकाकी आदिम तत्त्व, जिस में से ब्रह्माण्ड विकसित हुआ है।" [२८५]

१७७. इस अनुवाद से स्पष्ट है कि ग्रिफिथ पदों का अति शाब्दिक अनुवाद करने का प्रयास करते हैं। ये भाव के स्पष्टीकरण का सर्वथा त्याग करते हैं। पादटिप्पणियां बड़ी अल्प और बहुधा सायणीय विचारों की प्रकाशक हैं, अथवा उन के समीप हैं। इन अनुवादों में वेदार्थ में अलंकारों आदि का उपयोग न कर उसे भी काव्यमय भाषा में ही अनूदित करना चाहते हैं। इस से कई बार अनुवाद यथावश्यक बोधगम्य नहीं रहता है, उस में अस्पष्टता, और जटिलता और रूक्षता झलकने लगती है। रावण में ये दोष नहीं हैं। वे एक धारा को ले कर चलते हैं। और उस के अनुसार समस्त मन्त्रों को चिन्तन—ध्यानपरक लगाते हैं। इस व्याख्यान में उसे जहां अध्याहार की अथवा भावप्रकाशक वाक्यों की आवश्यकता थी, वहां—वहां उस ने इन दोनों का आश्रय लिया है। इस भावप्रकाशन से मन्त्रस्थ पदों के मूल अर्थों का कोई विरोध या वैषम्य नहीं है।

४. रावणभाष्य का वैशिष्ट्य

पदच्छेद

१७८. रावण का कोई पदपाठ इस समय उपलब्ध नहीं है। विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान में भी नहीं है। अतः पदपाठ को रावण की देन का निर्णय सम्भव नहीं। केवल उन के भाष्यगत पदों के व्याख्यान से उन पदों के पदपाठ की अवतारणा कर के ही इस देन का अनुमान सम्भव है।

२८५. ऋ. १०। १२९। २

१७९. रावण ने कई पदों का व्याख्यान शाकल्य के पदपाठ से भिन्न किया है। 'तद्विष्णोः'[२८६] मन्त्र में इव का सम्बन्ध 'आततम्' से जोड़ कर उसे 'दिवि' से पृथक् माना है। 'द्वा सुपर्णा'[२८७] में 'सखाया' का 'समानख्यानौ' अर्थ कर रावण इसे सऽखाया रूप में अवगृहीत मानते हैं।

१८०. 'यस्तित्याज'[२८८] में रावण ने 'नहि' को पृथक्-पृथक् लिया है। ये यत् को कर्म मानते हैं। अतः तृतीय पाद गौण वाक्य नहीं है, इस लिए 'वेद' क्रिया उदात्तहीन—निघात अभिप्रेत है, परन्तु 'हि' के कारण यह क्रिया सोदात्त भी हो सकती है। गौणवाक्य की क्रिया न होने से 'प्र' क्रिया से स्वतन्त्र अभीष्ट है।

१८१. 'हृदा तष्टेषु'[२८९] में संयजन्ते गौणवाक्य की क्रिया है, परन्तु रावण 'सम्' को उपसर्ग न मान कर क्रियाविशेषण मानते हैं। अतः यह 'यजन्ते' से पृथक् स्वतन्त्र पद अभीष्ट है।

१८२. 'चतुष्कपर्दा'[२९०] मन्त्र में रावण 'सुऽपेशा' मानते हैं, शाकल्य ने 'सुऽपेशाः' पढ़ा है।

१८३. 'एकः सुपर्णः'[२९१] में रावण ने 'समुद्रम्' को सम् + √ उन्द् से व्युत्पन्न कर अवगृहीत माना प्रतीत होता है।

१८४. 'नासदासीत्'[२९२] में रावण ने 'आवरीवः' का 'आवरक' और 'कुहकस्य' का 'इन्द्रजालिक' अर्थ दे कर दोनों को संज्ञा-

---

२८६. ऋ. १। २२। २०

२८७. ऋ. १। १६४। २०। यहां षस्वजाते को सस्वजाते पढ़ें।

२८८. ऋ. १०। ७१। ६ २८९. ऋ. १०। ७१। ८

२९०. ऋ. १०। ११४। ३ २९१. ऋ. १०। ११४। ४

२९२. ऋ. १०। १२९। १। आऽवरिवः को आवरीवरित्याऽवरीवः पढ़ें।

पद माना है, तथा 'कुहकस्य' को एक पद माना है। शाकल्य ने 'आवरीवः' को क्रियापद (आ। अवरीवर्), और 'कुहकस्य' को 'कुह। कस्य'—दो पृथक् पद माना है।

१८५. 'न मृत्युरासीत्'[२९३] में स्वधा को रावण ने स्व और धा का योग मान कर, अवगृहीत माना है।

१८६. अतः रावण ने सामान्यतः शाकल्य के मार्गानुयायी होते हुए भी अपने आध्यात्मिक अर्थ की दृष्टि में उन से यथावश्यक भेद में कोई आपत्ति नहीं समझी है। इन भेदों में रावण ने कोई व्यर्थ की कल्पना को मुक्त नहीं किया है। उस के पदच्छेद संयत तथा निरुक्त और व्याकरण की दृष्टि में स्वीकार्य हैं। उन पर भाषाविज्ञान को भी कोई महत्त्वपूर्ण आपत्ति नहीं हो सकती है। रावण सिखाते हैं कि प्राचीन परिधि से बाहर निकलना सदा हेय नहीं है। उन का पदच्छेद और पदपाठ पदपाठपरम्परा को एक महत्त्वपूर्ण देन हैं और रावण के स्वतन्त्र चिन्तन के परिचायक हैं।

निर्वचन

१८७. रावणभाष्य कुल १३ मन्त्रों पर ही मिला है। ये सब मन्त्र दर्शनसम्बन्धी हैं। इन में धातु से निर्वचन करने की आवश्यकता बहुत ही कम पड़ी है। इन के परिशिष्ट ९ में संकलित पदों में निर्वचन के अधोदत्त प्रकार या श्रेणियां मिलती हैं—

१. सीधे धातु से निर्वचन—यथा 'आरम्भणम्' को आ√रभ् से।

२. अर्थ या पर्याय दे कर। यथा 'ईम्' का 'बहिर्मुखम्' (√ ई जाना से), 'पदम्' का 'अभिव्यक्तिस्थान' (√ पद्-

२९३. ऋ. १०। १२९। २

जाना से), 'विष्णोः' 'का व्यापनशील' (√ अश् से) 'सुपर्णों' का 'सुपतनौ शोभनगमनौ (√ पत् से)।

३. समास के विग्रह द्वारा—यथा अप्रजश्यः, चतुष्कपर्दा, सचिविदम्, सभासाहेन और स्वधा के निर्वचन।

४. लौकिक रूप के निर्देश द्वारा—यथा, अह और परः के निर्वचन ।

५. आंशिक अक्षरात्मक विभाग द्वारा—यथा सखाया (स-खाया), और सयुजा (स-युजा) के निर्वचन ।

६. अनवगत संस्कार—यथा सुतेकरासः (में सुत-इ-करासः) का निर्वचन।

७. समानार्थक धातु से—यथा माघोनम् को √ इन्द् से।

१८८. यास्कीय निर्वचनों में भी ऐसी ही धाराएं मिलती हैं। रावण या अन्य किसी भाष्यकार के निर्वचनों को भायो० प्रतिरूपों से तुलना कर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करना आवश्यक है—भारतीय निर्वचन अर्थप्रधान हैं, आधुनिक ध्वनिमूलक हैं। आधुनिक अपनी समीक्षा में इस बात की भी उपेक्षा कर जाते हैं कि वैदिक भाषा से लौकिक भाषा और पदों का विकास हुआ है। अतः ठीक धारा में अध्ययन करने पर ध्वनिमूलक दोष भी यास्क और रावण के भाष्य में प्राप्त नहीं हो पाते हैं। [२९४]

---

२९४. १. देखो स.क. गुप्त, यास्कीय निर्वचन, वेवा० १७। १-४; एप्रीसिएशन औफ यास्क ऐज् ऐन ऐटिमौलौजिस्ट, जगन्नारिद्द २२। १–२, इण्डौलौजिकल ऐसेज् में भी संकलित; नेचर ऐण्ड स्कोप औफ ऐटिमौलौजी, आइओका १९६६, (संपु०), पृ०२२–२३

१८९. "रावण ने वैदिक पदों में अक्षरलोप, व्यत्यय, बहुल और निपातन आदि को भी माना है। उन्हों ने सिरो: का व्याख्यान सीरिण:[२९५]–कृषि करने वाले, अह [२९६]का अहम्–मैं किया है। वृषणा[२९७] में 'औ' के स्थान में 'आ' हो जाने का निर्देश किया है।"[२९८]

१९०. "रावण वैदिक पदों को पारिभाषिक मान कर भी व्याख्यान करते हैं। यथा माता[२९९] माया प्रकृति का नाम है, सुपर्ण[३००] ब्रह्म का; शर्म[३०१] कैवल्य रूप का, अवात [३०२] अनाम-गोत्र शुद्ध ब्रह्म का और दिव्[३०३] मूर्धास्थान का। उन के मत में 'पितर:'[३०४] साधारण प्रजाजन ही हैं। विष्णु[३०५] और इन्द्र[३०६] परमेश्वर के नाम हैं। वेद में 'एषाम्[३०७]' पद का अर्थ 'आचार्य' है। दक्षिणा[३०८] 'आत्मा' का ही नाम है।[३०९]

२९५. ऋ. १० । ७१ । ९;
२९६. ऋ. १० । ७१ । ८
२९७. ऋ. १० । ११४ । ३
२९८. वेमाआअ०, १७ । १४४; पृ० ६६
२९९. ऋ. १० । ११४ । ४
३००. वही
३०१. ऋ. १० । १२९ । २
३०२. वही
३०३. ऋ. १ । २२ । २०
३०४. ऋ. १० । १०७ । १
३०५. ऋ. १ । २२ । २०
३०६. ऋ. १० । १०७ । १
३०७. वही
३०८. वही
३०९. वेमाआअ०, १७ । १४५; पृ० ६६–६७

कुछ धातुओं के नए अर्थ भी

१९१. "रावण ने कुछ धातुओं के अर्थ भी प्रचलित अर्थों से भिन्न माने हैं। जैसे वे √ इन्द्[310] को ज्ञानार्थक मानते हैं तथा √ इन्ध्[311] को ले जाना और देखना अर्थों में, √ सह्[312] को आक्रमण अर्थ में, वि √ ऊर्णु[313] और वि √ वृ[314] को सृजन अर्थ में मानते हैं।[315]

द्विर्वचन तादात्म्यद्योतक भी

१९२. "रावण मानते हैं[316] कि तादात्म्य प्रदर्शन के लिए भी द्विर्वचन का प्रयोग हो सकता है।"

प्रमुखतया प्राचीनतम शैली

१९३. "संक्षेप में रावण की भाष्यशैली दार्शनिक और आध्यात्मिक है। वह नैरुक्त प्रक्रिया का अवलम्बन करती है और वेद, उपनिषद्, निरुक्त और व्याकरण आदि से अपने व्याख्यानों को पुष्ट करती है।[317] मध्यकालीन प्रभाव को पृथक् कर देने पर रावण के व्याख्यान पूर्णतः प्राचीन शैली के अनुरूप हो जाते हैं।"[318].

---

३१०. ऋ. १० । १०७ । १

३११. ऋ. १ । २२ । २१ ३१२. ऋ. १० । ७१ । १०

३१३. ऋ. १० । ८१ । २ ३१४. वही

३१५. वेभाआअ० १७ । १४६, पृ० ६७.

३१६. ऋ. १० । ११४ । ४ 'द्विर्वचनं तु तादात्म्यविषयकम्'। राभा० पृ० ११

३१७. देखो परिशिष्ट ४ में उद्धरणसूची; वेभाआअ० १७ । १५० । ३ भी देखें।

३१८. वेभाआअ०, १० । १५०, पृ० ६८

भाष्यकारों में रावण का स्थान

१९४. ऊपर के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वेदभाष्यकारों में रावण का स्थान बहुत ऊंचा और प्रामाणिक है। उन पर शंकराचार्य का ही विशेष प्रभाव है। सायण से भी कुछ स्थलों पर घनिष्ठ साम्य है, तथापि रावण को इन का उच्छिष्टभोजी नहीं कहा जा सकता। उन का अपना व्यक्तित्व है। उन के भाष्यों की आरम्भिक पंक्तियों से अनुमान होता है कि रावण ने और मन्त्रों पर भी भाष्य किया था। दयानन्द सरस्वती ने इन का ऋण वैधर्म्य से स्वीकार किया है। उन के और रावण के भाष्यों में पर्याप्त समीपता है।

रावणभाष्य का महत्त्व

१९५. संहिताओं में अनेकों मन्त्र सीधे आध्यात्मिक और दार्शनिक भावों के द्योतक हैं। यह परम्परा ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में और आगे भी विकसित हुई है और वहां बहुत से मन्त्रों के आध्यात्मिक भाव दिए गए हैं। यास्क के मत में समस्त मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ भी होता है।

१९६. परन्तु माधव भट्ट, स्कन्द स्वामी और वेंकटमाधव के भाष्य आध्यात्मिक नहीं कहे जा सकते। वररुचि ने नैरुक्तों की व्याख्यान शैली का क्रियात्मक दिग्दर्शन कराया है। माधव, भरतस्वामी और हरदत्त आदि स्कन्द के अनुयायी और तदुपजीवी हैं। उद्गीथ, उवट, महीधर, गुणविष्णु आदि के भाष्य याज्ञिक हैं, सायण ने अनेकों सम्प्रदायों के विचारों का संकलन किया है।

१९७. अतः वेदों से प्रवृत्त आध्यात्मिक व्याख्यानशैली की सामान्यतः भाष्यकारों ने उपेक्षा की है। इस कारण अनेक बार

उन के भाष्यों में सौष्ठव, वैशद्य, स्पष्टता, शालीनता और सरलता नहीं आ पाए हैं। जो आध्यात्मिक मन्त्र हैं, उन के यज्ञपरक व्याख्यान में असुविधा होना स्वाभाविक ही है।

१९८. रावण ने इस अध्यात्म परम्परा का पर्याप्त विस्तृत क्रियात्मक रूप प्रस्तुत किया है। समस्त भाष्य के मिलने पर ही इनके भाष्य का वास्तविक महत्त्व आंका जा सकता है। तो भी माधव भट्ट, स्कन्द आदि की अपेक्षा आध्यात्मिक अर्थ प्रधान होने से इस का महान् वैशिष्ट्य है। इन से पूर्व यद्यपि शंकराचार्य ने भी आध्यात्मिक भाष्य प्रस्तुत किया है, परन्तु उसे वस्तुतः भाष्य या वेदमन्त्रों की टीका नहीं कहा जा सकता। उन्हों ने कुछ मन्त्रों को आधार बना कर अपने मतानुकूल भाव मात्र प्रस्तुत किया है। आत्मानन्द ने केवल एक सूक्त के व्याख्यान में ही चरितार्थता अनुभव कर ली है। केवल रावण ही को यह श्रेय है कि उन का भाष्य दो मण्डलों से लिए हुए १२ मन्त्रों पर मिलता है।

१९९. रावणभाष्य शंकराचार्य के मायावाद के प्रभाव के विस्तार और उस की भारतीय चिन्तन में देन के अध्ययन के लिए भी बहुत उपयोगी है।

१९०. रावणभाष्य की एक और विशेषता इस की सरलता और प्राञ्जलता है।

१९१. संक्षेप में यदि कभी रावणभाष्य सम्पूर्ण ऋग्वेद और यजुर्वेद पर मिल गया तो वेदाध्ययन और अध्यात्मपरम्परा के ज्ञान के लिए वह बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

ॐ

अथ रावणभाष्यम्

१. तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥

ऋ० १।२२।२० (गी० ५।२७–२८, पृ० ४४१)

[स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ गी० ५।२७–२८ ॥]

१. विष्णोर्व्यापनशीलस्यापि परमात्मनस्तत् परमं पारमार्थिकं पदमभिव्यक्तिस्थानं, दिवि मूर्ध्नि भ्रूमध्ये वर्तते । "त्रिपादस्यामृतं दिवि"[1] इति श्रुतेः सत्यज्ञानानन्दात्मकं विष्णोः पदं, तत्किं, सूरयो[2] महानुभावाश्चक्षुराततं विस्तृतमिव कृत्वा सदाऽव्यवधानेन पश्यन्ति निरन्तरं साक्षात्कुर्वन्ति ।

२. यद्वा चक्षुरर्थप्रकाशम्, इव[3] एवकारार्थे, आततमपरिच्छिन्न- मेव यथा स्यात् तथा पश्यन्ति ।

२. तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥

ऋ० १।२२।२१ (गी० ५।२७–२८, पृ० ४४१)

[गीतावाक्यं पूर्ववदेव । उपरि द्र०]

१. तत् तस्माद्, विप्रासो विप्राः श्रेष्ठमतयो, विपन्यवो मेधा-

---

१. ऋ० १०।९०।३
२. हासं०—यत्सूरयो
३. हासं०—०प्रकाशकमिव

विनो, जागरांचक्रुरिति जागृवांसो दृश्यप्रपञ्चाद्दीर्घस्वप्नात् सकाशाज्जागरं प्राप्ता इत्यर्थः। प्रोक्तवदनुभूयमानपदं[1] समिन्धते समृद्धि नयन्ति सर्वात्मकत्वेन पश्यन्ति।

२. अत्रेदुक्तं भवति—अभ्यासदशायां सुषुम्नाविवरेण [2]भ्रूमध्यप्रापितया दृष्ट्या[3] पश्यन्ति, व्यवहारदशायां तु सकलविषयप्रतीतिरूपेण तदेव पश्यन्तीत्यर्थः[4]॥

३. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व-
त्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

ऋ० १।१६४।२० (गी० ८।४; पृ० ६२२)

[अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ गी० ८।४॥]

अत्र लौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन[5] जीवपरमात्मानौ स्तूयेते।

---

१. हासं—अनुभूयमानं पदं

२. हासं०—भ्रूमध्यं

३. हासं०—इष्टतया

४. सन्दर्भोऽयं प्रकरणे मन्त्रस्योपयोगं प्रदर्शयति। संभाव्यते यदयं सूर्यदैवज्ञपण्डितस्यैव लेखः स्याद्, रावणभाष्यस्यांशो न भवेत्। एवं सत्यपि मयाऽयमत्र रावणभाष्ये सम्पादितो यतो निःशेषेणायं रावणभाष्यस्यांशो नेति निश्चयाभावेऽस्य त्यागो नोचितः। हालमहोदयेनापि वमेव कृतमस्ति।

५. हासं०—लौकिकप्रसिद्ध्या दृष्टान्तेन

यथा लोके द्वौ सुपर्णौ सुपतनौ शोभनगमनौ सयुजा समानयोगौ सखाया समानख्यानौ समानं वृक्षमेकं देहाकारवृक्षं परिषस्वजाते आश्रयतः। तयोरन्य एकः पिप्पलं फलं स्वादुतरमत्ति। अपरोऽनश्नन्नभिचाकशीत्यभिपश्यति। तद्वद् द्वौ [1]सुपर्णस्थानीयौ क्षेत्रज्ञ-परमात्मानौ सयुजा समानयोगौ। योगो नाम सम्बन्धः स च तादात्म्यलक्षणः स एवात्मा जीवात्मनः स्वरूपम्। एवमन्यस्यापीत्यैकात्म्ये[2]। अत एव समानख्यानौ यस्य यादृशं ख्यानं स्फुरणं परमात्मनस्तदेवेतरस्याप्यत एव सखायौ एकरूपप्रकाशावित्यर्थः।

४. यस्तित्याज सचिविदं सखायं
न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति
न हि प्र वेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

ऋ० १०।७१।६ (गी० १०:११। पृ० ७५८)

[तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ गी० १०।११ ॥]

अत्र सचिशब्दः सखिवाची। सचीन् सखीन् परमप्रेमास्पदं[3] विषयान् वेत्तीति सचिवित्तमुपकारकम्। अत एव सखायं परमात्मानं यः पुरुषस्तित्याज त्यक्तवान् आत्मबहिर्मुख इत्यर्थः। तस्य [4]पठनात्मिकायामपि वाचि सत्यत्वभागो नास्ति, किं पुन-

---

१. मुपा०—सुवर्ण०
२. हासं०—ऐकात्म्यम्।
३. हासं०—परमप्रेमास्पदान्
४. हासं०—पवनात्मिकायाम्

र्जल्पनायाम्[1] । तथा ईमित्यव्ययम् । बहिर्मुखं यच्छृणोति शास्त्रश्रवणं करोति, तदलकमलीकमसत्यम् । हि यस्मात् कारणात् सुकृतस्य[2] सत्यस्य ब्रह्मणः पन्थां पन्थानं मार्गं न वेद[3] न जानाति[4] ।

५. हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु
यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभि-
रोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे ॥

ऋ० १०।७१।८ (गी० ३।१८; पृ० २५६)

[नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ गी० ३।१८ ॥]

हृदा बुद्धिरूपेण मनसा तष्टेषु निराकृतेषु मनसो जवेषु वृत्तिरूपेषु मनोजवेषु[5] वेगेषु सत्सु यद्यस्मात् कारणाद् ब्रह्मज्ञाः ब्राह्मणाः[6] सखायः सर्वभूतसुहृत्तमाः सन्तः सम्यक् प्रकारेण यजन्तेऽन्तर्यागं कुर्वते । तत्रान्तर्यागे क्रियमाणे किं भवतीत्याह—

---

१. हासं०—०जल्परूपायाम्

२. हासं०—यस्मात् कारणात् स सुकृतस्य

३. हासं०—प्र वेद

४. सायणाचार्येण वेदपक्षे व्याख्यातम् । अत्रैव हालोऽधिकं पठति, यच्चैवं—'तथा मुह्यन्त्यन्ये अभितो जनासः । इहास्माकं मघवा सरिरस्त्विति ॥' इदं खलु कुतश्चिदुद्धृतं, तदनु व्याख्यातमपि । एवं सतीदं रावणभाष्यस्य भागो भवितुं नार्हति ।

५, हासं०— जवेषु पदं नास्ति

६. हासं०—ब्राह्मणा ब्रह्मज्ञाः ।

अत्रेति । अत्राहं त्वमिति पदविभागे अहेत्यत्रानुस्वारलोपश्छान्दसः। अहं त्वं विजहुरन्तर्यागेन भेदभावनां त्यक्तवन्तः। किंभूताः वेद्याभिर्विद्याभिज्ञानवृत्तिभिरभित[1] ऊह्यं ब्रह्म यैस्ते, पदार्थ-प्रतीतिरूपेण ज्ञातब्रह्माणः सन्तः, उ इति निर्धारणे, विचरन्ति[2] अखण्डैकरसत्वेन व्यवहरन्ति। तदुक्तमागमेऽपि–'स्वाधिष्ठानगते कुण्डे चिद्रूपं वह्निमुज्ज्वलेत्। जुहुयात् प्रणवेनात्र त्वमहंतां निवेदयेत् ॥ आत्मना[3]त्मानमद्वैते भूत्वा सच्चित्सुखात्मकः। स्थीयते यत् कियत्कालं सोऽन्तर्यागः स्मृतो बुधैः' ॥ इति ॥

६. इमे ये नार्वाङ्‌ न परश्चरन्ति
न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया
सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥

ऋ० १० । ७१ । ९ (गी० ३ । १८; पृ० २५६)

[गीतावाक्यं तु पूर्ववदेव । उपरि ऋ० १० । ७१ । ८ मन्त्रे द्र० ।]

इमे ये इति[4]। इमे ये उक्तलक्षणाः पुरुषास्ते अर्वाङ्‌ मनुष्य-लोके न चरन्ति न संभवन्ति। न परः पर इति सकारान्तमव्ययम्। परस्मिन् देवलोकेऽपि नोत्पद्यन्ते कृताकृतैः कर्मभिरुत्तमाधमलोकं न गच्छन्ति। किं त्वत्रैव ब्रह्मीभूतास्तिष्ठन्तीत्यर्थः। "न तस्य

---

१. हासं०—वृत्तिभिरभि ऊह्यं

२. हासं—त्वे एकत्वे विचरन्ति

३. हासं०—आत्मन्या

४. हासं—य इति

प्राण उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलायन्ते"[1] इति[2] श्रुतेः परं तु ब्राह्मणा जातिमात्रविप्रास्तथा सुतं सोममभिसृतं[3] कुर्वन्तीति सुतेकरास्त एव सुतेकरासो याज्ञिकास्तथा भवन्ति किन्तु ते उत्तममध्यमाधमगतिं[4] प्राप्नुवन्त्येवेत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—त एत इति। त एते निरूपितप्रकारा ब्राह्मणाः सुतकराश्च वाचं फलप्रतिपादकां[5] वेदवाणीमभिपद्य ज्ञात्वा सिरीः सीरिणः[6] कृषिकर्त्तारः इव भूत्वा पापया फलाशया तन्त्रं यज्ञादिकं तन्वते विस्तारयन्ति, अत एव अप्रजज्ञयो न प्रकृष्टा जज्ञिर्जन्म येषां[7] तेऽप्रकृष्टजन्मान इत्यर्थः।

७. सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन
सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषा-
मरं हितो भवति वाजिनाय॥

ऋ० १०।७१।१० (गी० ९।३३; पृ० ७३७)।

[किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ गी० ९।३३॥]

---

१. नृसिंहोत्तरतापिन्युनिषद् ५।१-३
२. उप०, हासं०—समवलीयन्त इति। गी० मुपा०—समलीयन्ते
३. हासं—अभिषुतं
४. हासं०—उत्तमाधमगतिं
५. हासं०—०प्रतिपादिकां
६. हासं०—सारिणः
७. हासं०—एषां

"न तस्य प्रतिमास्ति यस्य[1] नाम महद्यश"[2] इति श्रुतेर्यशसा परमात्मना गतेन प्राप्तेन सर्वे देहिनो नन्दन्ति, परमानन्दाप्लुता भवन्ति । किं भूतेन सभासाहेन सभामिन्द्रियसभां लौकिक-व्यवहारं वा सहते आक्रमते तथाविधेन । पुनः किंभूतेन सख्योपकारकेण । किंभूताः सर्वे सखायः सर्वभूतसुहृत्समास्तथा च सर्वभूतसुहृत्समत्वमेवात्मप्राप्तेर्निदानं न तूत्तमाधमत्वमिति रावणभाष्यम् ।

८. किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं
कतमत् स्वित् कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा
वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥

ऋ० १०।८१।२; (गी० ९।१०; पृ० ६९१) ॥

[मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥ गी० ९।१०॥]

किं स्विदासीदिति पूर्वमन्त्रे जगत्प्रलयकाले जगत्संहृत्य पश्चात् सिसृक्षायां द्यावापृथिव्योरुत्पादनवेलायामधिष्ठानं किं स्विदासीत् किं न किंचिदित्यर्थः । तथाऽऽरम्भणं कतमं स्विद् आरभ्यतेऽनेनेत्यारम्भणमुपादानकारणं कतमद् भवेत्तदपि नेत्यर्थः । यद्यपि सम्भवदारम्भणं कथमासीत् कथमभूत् किं सदसद्वा भवेदित्यर्थः । उभयमपि नोत्पद्यते । सच्चेदद्वैतत्वभङ्गः, असच्चेत् तदात्मकयोर्द्यावापृथिव्योरुपादानानर्हत्वात् "नान्यत्किंचन मिषत्"[3] इत्यादिश्रुतेश्च । यतो यस्मादधिष्ठानादारम्भणाच्च

१. मुपा०, हासं०—तस्य
२. य० ३२।३
३. ऐउ० १।१

विश्वचक्षाः सर्वद्रष्टा परमेश्वरो भूमि जनयन् वर्तते, तथा द्यां दिवं व्यौर्णोत् व्यवृणोत् सृष्टवान् । । महिना स्वमहित्वेन ।

१. आविरभून्महि माघोनमेषां
विश्वं जीवं तमसो निरमोचि ।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागा-
दुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥

ऋ० १० । १०७ । १ (गी० १८।६८; पृ० १३०७)

[य इदं परमं गुह्यं मद्भक्ते ष्वभिष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ गी० १८।६८॥]

एषामाचार्याणां माघोनं महि आविरभूत् । इन्दति जानातीति व्युत्पत्त्या मघोन इन्द्रस्य परमात्मन इदं माघोनं महि महत्त्वम् आविरभूत्[1] । कुत इत्याह[2]–महीति । महित्वं[3] ज्योतिर्ज्ञानं च पितृभिरस्माभिर्दत्तं सदागात् प्राप्तं तेष्वाचार्येषु परिणतं येन ज्योतिषा विश्वं जीवं सर्वं जगत् तमसोऽज्ञानान्निरमोचि निर्मोचितम् । अथ कथमस्माभिस्तेभ्य एवार्पितमित्याह–तैः उरुर्निरवधिकफलो दक्षिणायाः पन्था मार्गोऽदर्शि दृष्टः । मोक्षार्थिभ्य आत्माख्यदक्षिणाया मार्गस्य फलं निरवधिकमिति ज्ञातमित्यर्थः । अत एव सावधिकफलां[4] दक्षिणामग्रिमश्रुत्याह[5]– उच्चा दिवीति[6] ।

---

१. ह्रासं०—आविरभूत् आविर्भूतम्
२. ह्रासं०—इत्यत आह
३. ह्रासं०—महि महत्वं
४. मुपा०—०फला
५. वाक्यमिदं ह्रासं० नास्ति
६. ऋ० १० । १०७ । २

१०. चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा
घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतु-
र्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥

ऋ० १०।११४।३ (गी० ७।१४; पृ० ५८२)

[दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ गी० ७।१४॥]

चत्वारः कपर्दा उत्कर्षा यस्याः सा चतुष्कपर्दा पूर्वोपक्रान्ता माया। अथ तानेवोत्कर्षानाह-युवतिरित्यादि। युवतिः सदा तरुणी कदापि वार्धकं न प्राप्नोत्ययमेक उत्कर्षः। तथा सुपेशा सुतरां पेशा पेशला[1] कुशलाऽघटित[2] घट नापटीयसी। तदुक्तम्-'यथा स्वप्नमुहूर्ते स्यात् संवत्सरशतभ्रमः। तथा मायाविलासोऽयं जायते जाग्रति भ्रमः' ॥ इति ॥ [3]अयं द्वितीय उत्कर्षः। तथा घृतप्रतीका घृतवन्मिष्टं प्रतीकमुपक्रमो यस्याः सा परिणामे विषोपमेत्यर्थः। अयमेव तृतीय उत्कर्षः। तथा वयुनानीति। वयुनानि ज्ञानानि, वस्ते छादयति, तद्विपरीतस्वभावत्वात्। तर्हि चतुरुत्कर्षवती मायैवास्ति कथमीश्वरप्रसिद्धिरित्याह-तस्यामिति।

---

१. ह्रासं—सुपेशा

२. ह्रासं—ऽघटनघटन०

३. इतः पूर्वं ह्रासं—
अविद्या च तथा विद्या जीव ईश्वर एव च।
तत्कृतौ बन्धमोक्षौ च षडस्माकमनादयः ॥ इति ॥
इत्ययमधिकः पाठः।

तस्यामुक्तलक्षणायां मायायां सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ जीवेश्वरौ पक्षिणाविव वृषणौ सदसत्फलवर्षितारौ । द्विवचनस्य "वा च्छंदसि"[१] इत्यात्वम् । निषेदतुर्निषण्णौ[२] स्थितौ । कुतो ज्ञातमेतदत आह–यत्रेति । यत्र[३] भागधेयमर्थप्रकाशसामर्थ्यं द्योतयन्त्यर्थान् प्रकाशयन्ति । ते देवाश्चक्षुराद्या दधिरे धृतवन्तः । अनेन ज्ञानतिरोधानकर्त्र्या[४] मायायाः सकाशादीश्वरस्य वैलक्षण्यं द्योतितम् ॥

११. एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश
स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे ।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तित–
स्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥

ऋ० १०।११४।४ (गी० ७।१४; पृ० ५८२) ॥

[गीतावाक्यं तु पूर्ववदेव । उपरि गतो मन्त्रो द्र०]

अथ सुपर्णाविति द्विवचनेनेश्वरस्य द्वैविध्यमापन्नं तत्परिहरति–एक इति । वस्तुतः सुपर्ण एक एव स समुद्रमाविवेश समुन्दयति तिरोधत्ते एवंविधं प्रपञ्चमाविवेश । "तत्सृष्ट्वा [५]तदेवानुप्राविशत्[६]" इति श्रुतेः । इदं भुवनं स्थूलप्रपञ्चरूपं[७]

१. पा० ६।१।१०६
२. हासं०—निषणौ
३. हासं०—यत्र त्यं
४. हासं०—ज्ञाननिरोधन०
५. हासं०—तदेवानु–इति नास्ति ।
६. तैउ० २।६।१
७. हासं—०प्रपञ्चभूतम् ।

विचष्टे ज्ञातवान् । तं पाकेन परिपाकेन[1] बुद्धिरूपेण मनसान्तितोऽभ्यन्तरतो यावदपश्यमद्राक्षं तावत्तं सुपर्णं माता माया रेह्लि लिह आस्वादने विसर्गे चेति[2] विसृजति त्यजति। तथा उ इति निश्चितं सुपर्णो मातरं विसृजति । [3]द्विर्वचनं तु तादात्म्यविषयकम् । अत एवाग्रतो वक्ष्यति "सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति[4]" इत्यादि ।

१२. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म-
न्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥

ऋ० १० । १२९ । १[5]; (गी० ९ । १०; पृ० ६९१-२) ॥

[मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥ गी० ९।१० ॥]

अथैतस्य प्रश्नोत्तरस्य प्रतिपादिकां श्रुतिमाह—नासद् इति । अनया सृष्टेः प्राङ् निरस्तसमस्तप्रपञ्चलयावस्था निरूप्यते । प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तदसच्छषविषाणवन्नीरूपाख्यं नासीत् । न हि तादृशात् कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भवति। तथा नो सदासीत् । परमार्थसतः परमात्मनोऽन्यत् सदस्तीत्युच्यमाने द्वैतत्त्वप्रसङ्गः । नापि व्यवहारसत् । अग्रे व्यवहाराभावस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तस्मादुभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः । अथ व्यावहारिकसत्त्वं निषेधति—

१. हासं०—परिपक्वेन २. हासं०—विसर्गेति ३. मुपा०—द्विवचनं ४. ऋ० १०।११४।५ ५. ऋभाभू०, पृ० १४७ स्थले दयानन्दस्वामिनो व्याख्यानं वर्तते ।

तदानीमिति । 'लोका रजांस्युच्यन्ते'[1] इति यास्कः । अत्र सामान्यापेक्षमेकवचनम् । एवं व्यवहारसत्ता पृथिव्यादीनामभावादित्यर्थः । तथा व्योमान्तरिक्षं तदपि नासीत् । पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते । व्योम्नः परस्ताद् द्युलोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यदस्ति तदपि नासीदित्यर्थः । अनेन ब्रह्माण्डमपि निषिद्धं भवति । यत एतद्भासमानं भूतजातं पूर्वं नासीत् । किन्तु शुक्तिकारजतवन्मध्ये एवोत्पन्नमिति श्रुत्या निरूपितम् । न त्वासीदिति धातोस्तदानीमित्यव्ययस्य च भूतकालवाचित्वाद् व्योमादीनामसम्भवेऽपि किञ्चित्काल आसीदिति चेन्न । 'आनीदवातम्''[2] इति श्रुत्या तस्यापि निषेधात् । अतः सकलमपि दृश्यजातं प्राङ् निरूपितसदसद्विलक्षणोपादानकं प्रातिभासिकमिति पर्यवसन्नम् । अथैतस्य ज्ञानैकनाश्यत्वेन प्रातिभासिकत्वं दृढीकुर्वन्नाह—"किमावरीव" इति । प्रागुक्तं दृश्यजातं शर्मन्निति शर्मण्यबाधिते ब्रह्मणि किमावरीवः किमावरकं भवति वा नेत्यर्थः । अनेन यत् सदसद्विलक्षणमासीत्तत्स्वाश्रयाव्यामोहकमित्युक्तम् । यथा कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य गह्वनं गभीरमक्षोभ्यमम्भस्तेन मायया रचितमम्भोमध्ये एवोत्पन्नं सत् कुहकस्यावरकं भवति वा नेत्यर्थः ।

१३. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥

ऋ० १०।१२९।२[3]; (गी० ९।१०; पृ० ६९१–६९२)

[गीतावाक्यं तु पूर्ववदेव । उपरि गतो मन्त्रः प्रेक्षणीयः ।]

---

१. नि० ४।१९; गी० मुपा०–लोको रजांस्युच्यत इति यास्कः
२. ऋ० १०।१२९।२ ३. दयानन्दसरस्वतिना ऋमाभू० १४७ पृष्ठे व्याख्यातः ।

किं च " न मृत्यु " रिति तदानीं शर्मणि केवलस्वरूपे मृत्यु-र्जन्ममरणात्मको बन्धोऽमृतं मोक्षो वा नासीत्। यथा सूर्ये रात्र्या अह्नश्च प्रकेतो ज्ञानं नास्ति तद्वत्। तर्हि किं "स्वानीदिति"। एक-मवातमप्राणं शुद्धं ब्रह्मैवासीत् "अप्राणो ह्यमना"[1] इति श्रुतेः। तथा अप्राणमनामगोत्रमिति च। एवं तत् स्वधया स्वस्मिन् ध्रियते कल्प्यते सा स्वधा तया कृत्वासीत् कर्तृरूपेणासीदित्यत्र आनीदिति धातुः प्रयुक्तः। एवं मायाशबलितं सूत्रात्मसंज्ञ-मासीदित्युक्तम्। हेति निश्चयेन तस्मादन्यत् किंचन[2] किमपि नास नासीत् परस्तादग्रेऽवसानेऽपि तदेव॥

इति डा० सुधीर-कुमार-गुप्त-शास्त्रि-प्रभाकर-एम०ए०—
पीएच० डी०–स्वर्णपदकिना सम्पादितं
रावणभाष्यमवसितम्॥

---

१. मुउ० २।१।२

२. मुपा०—च

परिशिष्ट १

रावण की व्याख्या के अनुसार मन्त्रों का पदच्छेद

[यहां पर शाकल्य के पदपाठ की शैली का ही अनुसरण किया गया है। केवल अवग्रह आदि के भेदों को दर्शाना अभीष्ट है। स्वर लगाने की व्यवस्था नहीं हो सकी है]।

१. तत् । विष्णोः। परमम् । पदम् । सदा । पश्यन्ति । सूरयः । दिवि । इव । चक्षुः । आऽततम् ॥ ऋ० १।२२।२०।

इव के अर्थ 'मानो' और 'अवधारण' लिए हैं और उस का सम्बन्ध 'आततम्' से जोड़ा है। अतः यहां उसे 'दिवि' से अवगृहीत नहीं किया गया है। तु. क. सा० भा०।

२. तत् । विप्रासः । विपन्यवः । जागृऽवांसः । सम् । इन्धते । विष्णोः । यत् । परमम् । पदम् ॥ ऋ० १।२२।२१।

३. द्वा । सुऽपर्णा । सऽयुजा । सऽखाया । समानम् । वृक्षम् । परि । सस्वजाते । तयोः । अन्यः । पिप्पलम् । स्वादु । अत्ति । अनश्नन् । अन्यः । अभि । चाकशीति ॥ ऋ० १।१६४।२०।

'सखाया' का अर्थ 'सुपर्णा' और 'सयुजा' के सदृश ही 'समानख्याना' दिया है। अतः इसे यहां पर अवगृहीत कर दिया गया है।

४. यः तित्याज । सचिऽविदम् । सऽखायम् । न । तस्य । वाचि । अपि । भागः । अस्ति । यत् । ईम् । शृणोति । अलकम् । शृणोति । न । हि । प्र । वेद । सुऽकृतस्य । पन्थाम् ॥

ऋ० १० । ७१ । ६ ।

'सखायम्' को पूर्व मन्त्र के अनुसार अवगृहीत किया गया है । 'न' और 'हि' की योजना पृथक्-पृथक् की गई है । गीता के मुद्रित पाठ ने 'प्र' को छोड़ दिया है । रावण ने इस का अर्थ भी नहीं दिया है । 'यत्' को रावण ने कर्म माना है, संयोजक या कालवाचक अव्यय आदि नहीं । अतः यह गौणवाक्य नहीं है । इस कारण 'प्र' को 'वेद' से पृथक् रक्खा गया है ।

५. हृदा । तष्टेषु । मनसा । जवेषु । यत् । ब्राह्मणाः । सम् । यजन्ते । सऽखायः । अत्र । अह । त्वम् । वि । जहुः । वेद्याभिः । ओहऽब्रह्माणः । वि । चरन्ति । ऊँ इति । त्वे ॥ ऋ० १०।७१।८॥

रावण ने 'सम्' को पृथक् पद वत् व्याख्यात किया है ।

६. इमे । ये । न । अर्वाङ् । न परः । चरन्ति । न । ब्राह्मणासः । न । सुतेऽकरासः । ते । एते । वाचम् । अभिऽपद्य । पापया । सिरीः । तन्त्रम् । तन्वते । अप्रऽजज्ञयः ॥ ऋ० १०।७१।९।

कोई अन्तर नहीं है ।

७. सर्वे । नन्दन्ति यशसा । गतेन । सभाऽसाहेन । सऽख्या । सऽखायः । ऋ० १०।७१।१०

रावण ने केवल पूर्वार्द्ध का ही व्याख्यान किया है ।

८. किम् । स्वित् । आसीत् । अधिऽस्थानम् । आऽरम्भणम् । कतमत् । स्वित् । कथा । आसीत् । यतः । भूमिम् । जनयन् ।

विश्वऽकर्मा । वि । द्याम् । और्णोत् । महिना । विश्वऽचक्षाः ॥
ऋ० १०।८१।२ ।

रावण ने 'विश्वकर्मा' का व्याख्यान नहीं किया है ।

९. आविः । अभूत् । महि । माघोनम् । एषाम् । विश्वम् । जीवम् । तमसः । निः । अमोचि । महि । ज्योतिः । पितृऽभि । दत्तम् । आ । अगात् । उरुः । पन्थाः । दक्षिणायाः । अदर्शि ॥
ऋ० १०।१०७।१ ।

कोई अन्तर नहीं है ।

१०. चतुःऽकपर्दा । युवतिः । सुऽपेशा । घृतऽप्रतीका । वयुनानि । वस्ते । तस्याम् । सुऽपर्णा । वृषणा । नि । सेदतुः । यत्र । देवाः । दधिरे । भागऽधेयम् ॥ ऋ० १०।११४।३ ।

कोई अन्तर नहीं है ।

११. एकः । सुऽपर्णः । सः । समुऽउद्रम् । आ । विवेश । सः । इदम् । विश्वम् । भुवनम् । वि । चष्टे । तम् । पाकेन । मनसा । अपश्यम् । अन्तितः । तम् । माता । रेह्लि । सः । ऊँ इति । रेह्लि । मातरम् ॥ ऋ० १०।११४।४ ।

समुद्रम् को सम्+√उन्द् से व्युत्पन्न किया है ।

१२. न । असत् । आसीत् । नो इति । सत् । आसीत् । तदानीम् । न । आसीत् । रजः । नो इति । विऽओम । परः । यत् । किम् । आऽवरिवः । कुहकस्य । शर्मन् । अम्भः । किम् । आसीत् । गहनम् । गभीरम् ॥ ऋ० १०।१२९।१ ।

आवरिवः का अर्थ 'आवरकम्' किया है और 'कुहकस्य' का 'इन्द्रजालिकस्य' । शाकल्य के पदपाठ से ये अर्थ सम्भव नहीं हैं ।

१३. न । मृत्युः । आसीत् । अमृतम् । न तर्हि । न । राव्याः । अह्नः । आसीत् । प्रऽकेतः । आनीत् । अवातम् । स्वऽधया । तत् । एकम् । तस्मात् । ह । अन्यत् । न । परः । किम् । चन । आस ॥

स्वधया को स्व+√धुङ् से व्युत्पन्न किया है। सम्भवतः 'आनीत्' में 'आ' उपसर्ग भी अभिप्रेत रहा हो।

रावणभाष्यम्

परिशिष्ट २

भाष्य का हिन्दी अनुवाद

१. तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ऋ० १।२२।२० ॥

[विष्णोः] व्यापनशील भी परमात्मा का [तत्] वह [परमम्] पारमार्थिक [पदम्] अभिव्यक्ति का स्थान [दिवि] मस्तक में भौंओं के बीच में विद्यमान है। 'द्युलोक में उस का तीन-चौथाई अमर अंश है[1]' इस श्रुति के अनुसार विष्णु का पद सत्य ज्ञान और आनन्द स्वरूप वाला है। [तत्] उस को [सूरयः] महानुभाव (विद्वान्) [चक्षुः] अपनी दृष्टि को [आततमिव]

---

१. देखो वेला० मं० २४

मानो फैला कर [सदा] बिना किसी व्यवधान के लगातार [पश्यन्ति] साक्षात्कार करते हैं।

(ii) अथवा—[चक्षुः] अर्थप्रकाश को [इव] ही [आततम्] अपरिच्छिन्न रूप में [पश्यन्ति] साक्षात् करते हैं।

२. तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥ ऋ० १।२२।२१॥

[तत्] इस कारण [विप्रासो] श्रेष्ठ मति वाले। [विपन्यवः] मेधावी जन [जागृवांसः] दृश्यप्रपंच रूप दीर्घ स्वप्न से प्रबुद्ध हुए [विष्णोः यत् परमम् पदम्] विष्णु के ऊपर वर्णित (मूर्धा में स्थित) अनुभव के विषय पद (=अभिव्यक्तिस्थान) को [समिन्धते] समृद्ध करते हैं, सर्वात्मा के रूप में देखते हैं।

(ii) यहां यह कहा गया है—कि अभ्यास की अवस्था में सुषुम्ना नाड़ी के विवर से भौंओं के बीच में केन्द्रित की हुई दृष्टि से देखते हैं। परन्तु व्यवहारदशा में सम्पूर्ण विषयों के अनुभव के रूप में उस को ही देखते हैं।

३. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ऋ० १।१६४।२०॥

यहां लौकिक पक्षियों के दृष्टान्त से जीवात्मा और परमात्मा की स्तुति की गई है। जैसे लोक में [द्वा] दो [सुपर्णा] उत्तम उड़ान वाले [सयुजा] समान प्रवृत्ति वाले [सखाया] समान

स्फुरण (=नाम आदि) वाले (समानम्) एक ही देह रूपी वृक्ष पर (परि षस्वजाते) आश्रय लेते हैं। (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक (स्वादु) स्वादुतर (पिप्पलम्) फल को (अत्ति) खाता है, (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभि-चाकशीति) देखता रहता है। उसी प्रकार (द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षिस्थानीय क्षेत्रज्ञ और परमात्मा रूप (सयुजा) आत्मा और जीवात्मा के स्वरूप के तादात्म्य नामक समान योग वाले (सखाया) परमात्मा और जीवात्मा दोनों के एक ही स्फुरण (—नाम) वाले अर्थात् एक रूप और प्रकाश वाले (हैं)।

४. यस्तित्याज सचिविदं सखायं
न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति
न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ।। ऋ० १०।७१।६।।

यहां 'सचि' शब्द सखि (मित्र) का पर्याय है। (सचिविदम्) मित्रवत् परम प्रेम के पात्र विषयों को जानने वाले उपकारकर्त्ता, इस लिए (सखायम्) मित्र भूत परमात्मा को (यः) जिस पुरुष ने (तित्याज) छोड़ दिया है, अर्थात् आत्मा से बहिर्मुख (=विमुख) हो गया है, (तस्य) उस की (वाचि) पाठरूपी वाणी में (अपि) भी (भागः) सत्यता का लेश (न अस्ति) नहीं है, फिर गप्पों का तो कहना ही क्या। और (ईम्) यह अव्यय है। बहिर्मुख रूप से (यत्) जो कुछ (शृणोति) शास्त्र का श्रवण करता है (तत्) वह (अलकम्) झूठ है। (हि) इस कारण (सुकृतस्य) सत्य ब्रह्म के (पन्थाम्) मार्ग को (न वेद) नहीं जानता है।

५. हृदा तष्टेषु मनसा जवेषु
यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।

अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभि—
रोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे ॥ ऋ० १०।७१।८॥

(हृदा) बुद्धि रूपी (जवेषु) वृत्ति रूपी मनोवेगों के (मनसा) मन से (तष्टेषु) निकाले जाने, निराकृत किए जाने पर (यत्) जिस कारण (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी (सखायः) सब प्राणियों के परम सुहृत् बन कर (सम्) अच्छी प्रकार (यजन्ते) अन्तर्याग करते हैं। वहां अन्तर्याग करने पर क्या होता है यह बताते हैं—यहां 'अहम्' और 'त्वम्' इस पद विभाग में 'अह' में अनुस्वार का लोप वैदिक है। (अह) मैं और (त्वम्) तुम–इस भेदभावना को (विजहुः) अन्तर्याग से छोड़ दिया है। (वेद्याभिः) विद्या और अभिज्ञान की वृत्तियों से (ओहब्रह्माणः) दोनों ओर से पदार्थों की प्रतीति (=सत्यज्ञान) रूपी ब्रह्म के ज्ञाता हो कर (उ) निःसन्देह (विचरन्ति) अखण्ड एक रस रूप में व्यवहार करते हैं। यह बात आगमों में भी कही गई है—"स्वाधिष्ठान चक्र में वर्तमान वेदी में 'चिद्रूप' नामक अग्नि को प्रदीप्त करे। यहां प्रणव (—ओ३म् शब्द) से हवन करे। उस को निवेदन करे कि तू मैं हूं। अपने आप को अपने आप से अद्वैत में स्थित हो कर सत् चित् सुख रूप हुआ जो कुछ काल ठहरा जाता है वह विद्वानों द्वारा अन्तर्याग कहा गया है।"

९. इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति
न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
एते वाचमभिपद्य पापया
सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥ ऋ० १०।७१।९॥

(इमे ये) ऊपर वर्णित गुणों वाले जो पुरुष हैं वे (अर्वाङ्) मनुष्यलोक में (न चरन्ति) उत्पन्न नहीं होते हैं। (न) और न ही।

[परः] यह सकारान्त अव्यय है। दूसरे देवलोक में ही उत्पन्न होते हैं। किए और न किए हुए कर्मों के द्वारा उत्तम और अधम लोक को नहीं जाते हैं, बल्कि यहीं ब्रह्मरूप हो कर रहते हैं। श्रुति भी है कि 'उस के प्राण नहीं निकलते हैं, यहीं पूर्णतया लीन हो जाते हैं। परन्तु [ब्राह्मणासः] जातिमात्र से विप्र और [सुतेकरासः] सोम का अभिषव करने वाले याज्ञिक, वैसे होते हैं,[१] किन्तु वे उत्तम मध्यम और अधम गति को प्राप्त करते हैं, यही भाव है। इस में कारण बताते हैं--[त एते] वे ये ऊपर वर्णित प्रकार वाले ब्राह्मण और सुतेकर [वाचम्] फल की प्रतिपादक वेदवाणी को [अभिपद्य] जान कर [सिरीः] कृषकों के समान हो कर [पापया] फल की आशा से [तन्त्रम्] यज्ञ आदि कर्मों का [तन्वते] विस्तार करते हैं और इस कारण वे [अप्रजज्ञय] निकृष्ट जन्म वाले होते हैं।

७. सर्वे नन्दन्ति यशसा गतेन
सभासाहेन सख्या सखायः। ऋ० १०।७१।१०॥

'जिस का महान् यश है, उस की कोई तुलना नहीं है।' श्रुति के इस कथन के अनुसार [यशसा] परमात्मा की [गतेन] प्राप्ति से [सर्वे] समस्त शरीरधारी जन्तु [नन्दन्ति] परम आनन्द में भर जाते हैं। किस प्रकार के (परमात्मा की प्राप्ति से--उस को कहते हैं)-[सभासाहेन] इन्द्रियों की सभा या लौकिक व्यवहार पर आरूढ़। फिर कैसे से--[सख्या] उपकारक से। कैसे (जन)-[सखायः] समस्त मित्र, सब

---

१. यहां पर पादस्थ दो नकारों को भाष्यकार ने विधिरूप में लिया प्रतीत होता है। वस्तुत: वाक्ययोजना में 'न' का भाव अभिप्रेत है--'ब्राह्मण आदि वैसे नहीं होते हैं बल्कि उत्तम आदि गतियों को प्राप्त करते हैं।' संभवतः लेखन या मुद्रण में 'न' रह गया है।

प्राणियों के परम सुहृत्। साथ ही–सब प्राणियों की मैत्री ही आत्म-प्राप्ति का कारण है, जन्म आदि से) उत्तम और अधम होना नहीं है।

८. किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं
कतमत् स्वित् कथासीत्।
ऽयतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा
वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥

ऋ० १०।८१।२॥

'भला (वहां) क्या था' इस पहले मन्त्र में जगत् की प्रलय के समय जगत् का संहार कर के पीछे सृष्टि की कामना होने पर द्युलोक और पृथिवीलोक के पैदा करने के समय [अधिष्ठानम्] अधिष्ठान [किं स्वित्] क्या [आसीत्] था, अर्थात् कुछ भी नहीं था। और [आरम्भणम्] आरम्भ करने का साधन—उपादान कारण [कतमत्] क्या [आसीत्] हो सकता है, अर्थात् वह भी नहीं था। यद्यपि उत्पन्न होता हुआ (—सम्भवत्) आरम्भण [कथा] कैसा [आसीत्] था - क्या सत् या असत् हो सकता है। दोनों ही उत्पन्न नहीं होते हैं। अगर सत् हो तो अद्वैत का नाश हो जाए, और अगर असत् हो तो तद्रूप द्युलोक और पृथिवीलोक का उपादान होने योग्य नहीं। और श्रुति भी कहती है—'और कुछ भी चेष्टाशील[1] नहीं था' इत्यादि। [यतः] जिस अधिष्ठान और आरम्भण से [विश्वचक्षाः] सब का द्रष्टा परमेश्वर [भूमिम्] भूमि को [जनयन्] उत्पन्न करता है, तथा [द्याम्] द्युलोक को [वि और्णोत्] रचा है। [महिना] अपने महत्त्व (—महिमा) से।

९. आविरभून्महि माघोनमेषां
विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।

---

१. वेला० मं० ४६।२ में निमिषतः पर विचार देखें।

महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागा-
दुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥ ऋ० १०।१०७।१॥

[एषाम्] इन आचार्यों का [माघोनं महि आविरभूत्] । 'इन्दति' जानता है इस व्युत्पत्ति से मघवत्–इन्द्र परमात्मा का (—माघोनम्) 'महि'-महत्त्व प्रकट हो गया है । कहां से यह बताते हैं —[महि] महत्त्व और [ज्योतिः] ज्ञान [पितृभिः] हमारे द्वारा [दत्तम्] दिये जाने पर [आगात्] प्राप्त हुआ, उन आचार्यों में परिपक्व हुआ-—जिस ज्योति से [विश्वम्] सम्पूर्ण [जीवम्] जगत् [तमसः] अज्ञान से [निरमोचि] छुड़ाया गया है। अब हमारे द्वारा उन को कैसे दिया गया यह बताते हैं—उन के द्वारा [उरुः] असीम फल वाला [दक्षिणायाः] दक्षिणा का [पन्थाः] मार्ग [अदर्शि] देखा गया है। अर्थात् मोक्षार्थियों के लिए आत्मा नामक दक्षिणा के मार्ग का फल असीम है यह जाना गया। इस लिए अगली ऋचा—'उच्चा दिवि' आदि ससीम फल वाली दक्षिणा को कहती है।

१० चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा
घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते ।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतु-
र्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥ ऋ० १०।११४।३ ॥

(चतुष्कपर्दा) चार कपर्द—उत्कर्षों वाली पहले वर्णित (—उपक्रान्ता) माया। अब उन उत्कर्षों का वर्णन करते हैं—(युवतिः) सदैव जवान, कभी भी बुढ़ापे को प्राप्त नहीं होती—यह एक उत्कर्ष है। और (सुपेशा) भली प्रकार पेशल—कुशल (अर्थात्)—अघटित को भी घटित करने में कुशल। वह कहा भी गया है—' जैसे

स्वप्न में एक मुहूर्त में भी सैंकड़ों वर्षों का भ्रम हो जाता है, वैसे ही जागते हुए को यह माया का विलास रूप भ्रम उत्पन्न हो जाता है।' यह दूसरा उत्कर्ष है। और (घृतप्रतीका) घी के समान मधुर प्रारम्भ वाली अर्थात् परिणाम में विषतुल्य। यह ही तीसरा उत्कर्ष है। और (वयुनानि) ज्ञानों को (वस्ते) आच्छादित कर लेती है, क्यों कि उस से विपरीत स्वभाव वाली है। (जब) चार उत्कर्षों वाली माया ही है तब ईश्वर की प्रसिद्धि कैसे है--यह बताते हैं। (तस्याम्) उस ऊपर वर्णित माया में (सुपर्णा) शोभन पतन वाले जीव और ईश्वर दो पक्षियों के समान (वृषणौ) सत् और असत् फल के वर्षक। 'वा च्छंदसि' सूत्र से द्विवचन को 'आ' हो गया है। (निषेदतुः) बैठे हैं। यह कहां से पता चला--यह बताते हैं--(यत्र जहां (भागधेयम्) अर्थों के प्रकाश के सामर्थ्य को द्योतित करते हैं, अर्थों को प्रकट करते हैं। वे (देवाः) आंख आदि इन्द्रियां (दधिरे) धारण किए हुए हैं। इस ज्ञान को छिपा देने वाली माया के पास से ईश्वर की विलक्षणता प्रकट हुई है।

११. एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश
स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे
तं पाकेन मनसापश्यमन्तित-
स्तं माता रेह्लि स उ रेह्लि मातरम् ॥

ऋ० १०।११४।४ ॥

अब 'दो सुपर्ण' इस द्विवचन से ईश्वर का दो होना सिद्ध होता है, उस का परिहार करते हैं--एक इत्यादि। वास्तव में (सुपर्णः) शोभन पतन वाला आत्मा (एक एव) अकेला ही (सः) वह (समुद्रम्) तिरोधान करने वाले प्रपञ्च में (आ विवेश) प्रविष्ट है। श्रुति (भी

कहती है) —'उस की रचना कर के उसी में प्रविष्ट हो गया।' (सः) वह (इदम्) इस (भुवनम्) स्थूल प्रपञ्च रूप को (वि चष्टे) जानता है। (तम्) उस को (पाकेन) परिपाक से (मनसा) बुद्धि रूपी मन से (अन्तितः) अन्दर ही अन्दर जैसे ही (अपश्यम्) मैं ने देखा वैसे ही (तम् उस सुपर्ण को (माता) माया (रेह्लि) √ ह्लि चाटना और विसर्ग (—रचना, छोड़ना) से—रचती, छोड़ती है। तथा (उ) निश्चित रूप से सुपर्ण (मातरम्) माता—(माया) को (रेह्लि) छोड़ती है—रचती है। दो बार कथन तादात्म्य का द्योतक है। इसी लिए आगे कहेंगे कि 'विद्वान् कवि जन अपनी वाणियों से एक होने पर भी सुपर्ण को अनेक रूपों में वर्णित करते हैं'[1] इत्यादि।

१२. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म-
न्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥ऋ० १०।१२९।१॥

अब इस प्रश्नोत्तर की प्रतिपादक श्रुति को बताते हैं—नासद् इत्यादि। इस सृष्टि से पहले की समस्त प्रपञ्चों से विरहित लय (-तल्लीनता, शान्त स्तब्धता) की स्थिति का वर्णन किया जाता है। प्रलय की स्थिति में वर्तमान इस जगत् का जो मूल कारण था वह (असत्) खरगोश के सींगों के समान रूपहीन असत् नाम का (न आसीत्) नहीं था। क्यों कि उस प्रकार के कारण से इस सत् जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तथा (नो सत् आसीत्) पारमार्थिक सत परमात्मा से भिन्न सत् है ऐसा कहने पर द्वैतभाव का प्रसंग उपस्थित हो जाता है (जो स्वीकार्य नहीं)। व्यवहार सत् भी न (था)। क्यों

---

१. 'कल्पयन्ति' के अर्थ के लिए वेला० मं० ३.२.६ देखें।

कि आगे व्यवहार का अभाव बताया है। इस कारण दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय--अव्याख्येय ही था, यह अर्थ हुआ। अब व्यावहारिक सत् का भी निषेध करते हैं—तदानीमित्यादि। (न आसीत् रजः)--यास्क कहते हैं कि 'रजांसि' लोकों को कहते हैं। यहां सामान्य की दृष्टि से एकवचन का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार पृथिवी आदि के अभाव से व्यावहारिक सत्ता (भी न थी)। (नो व्योम) और वह अन्तरिक्ष भी न था। (यत् परः)—परः सकारान्त अव्यय है। इस का अर्थ परस्तात् = आगे है। अन्तरिक्ष से आगे--परे द्युलोक आदि सत्यलोक पर्यन्त जो कुछ है वह भी नहीं था यह अर्थ हुआ। इस से ब्रह्माण्ड का भी निषेध हो गया। क्यों कि यह दिखाई पड़ने वाला (= भासमान) भूतों का समूह पहले नहीं था, बल्कि सीपी में चान्दी के समान बीच में ही उत्पन्न हो गया यह श्रुति ने वर्णन किया है। 'नहीं था' इस धातु के और 'तब' अव्यय के भूत-काल वाची होने के कारण अन्तरिक्ष आदि की सत्ता सम्भव न होने पर भी क्या समय था, अगर ऐसा मानो, तो नहीं। 'बिना वायु के श्वास ले रहा था' इस श्रुति ने उस का भी निषेध कर दिया है। इस लिए सम्पूर्ण दृश्यमान पदार्थ आदि पहले वर्णित सत् और असत् से भिन्न विलक्षण उपादान वाला प्रतिभासित ही होता था यह निष्कर्ष निकला। अब इस के ज्ञान द्वारा नाश किया जा सकने के कारण प्रतीयमानता को पक्का करने के लिए कहते हैं—'आच्छादक क्या था—पहले कहा हुआ दिखाई पड़ने वाला जगत् (शर्मन्) निर्बाध ब्रह्म में (किम् आवरीवः) क्या आच्छादक होता है या नहीं—यह अर्थ हुआ। इस से जो सत् और असत् दोनों से भिन्न विचित्र रूप था वह अपने आश्रय का व्यामोहक न था--यह कहा गया है। (कुहकस्य) जैसे ऐन्द्र-जालिक का (जादु से प्रकट किया हुआ) (गहनम् गहन और (गभीरम्) अक्षोभ्य (अम्भः) जल होता है, उस से माया द्वारा

रचा हुआ जल के बीच में ही उत्पन्न सत् कुहक (—जगत् ?) का आवरक था वा नहीं— यही अर्थ है।

१३. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ऋ० १०।१२९।२॥

तथा 'मृत्यु भी न थी' इत्यादि (तर्हि) उस समय केवल स्वरूप वाले ब्रह्म में (मृत्युः) जन्म-मरण रूप बन्ध और (अमृतम्) मोक्ष (न आसीत्) नहीं था। जैसे सूर्य के होने पर[1] (?) (रात्र्याः) रात का और (अह्नः) दिन का (प्रकेतः) ज्ञान ((न आसीत्) नहीं था, उसी प्रकार। (तर्हि) तब क्या—(आनीत्) बिना प्राण के एक ही शुद्ध ब्रह्म था। श्रुति ने भी कहा है—' बिना प्राण और बिना मन के'। अपि च बिना प्राण का भाव है—नाम और गोत्र से हीन। इस प्रकार (तत्) वह (स्वधया) अपनी कल्पित की गई माया से कर के (आसीत्) कर्ता के रूप में था। यहां पर 'आनीत्' इस धातु का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार माया से विविध रूप हुआ सूत्रात्मा नाम का था यह कहा गया है। (ह) निश्चय से (तस्मात्) उस से (अन्यत्) भिन्न (किंचन) कुछ भी (न आस) नहीं था। परे, आगे और अन्त में भी वही (था)।

---

१. 'सूर्य के न होने पर' अभिप्रेत है। लेखक या मुद्रक के प्रमाद से 'न' रह गया है।

रावणभाष्यम्

परिशिष्ट ३

ऋ० ३ । ८ । ४ का रावणभाष्य

हाल ने ऋ० ३ । ८ । ४ के अघोदत्त भाष्य के पूर्व 'रावण-भाष्यम्' लिख कर इसे रावण का लेख माना है। परन्तु यह भाष्य सूर्यदैवज्ञपण्डित का ही हो सकता है। मुद्रित परमार्थप्रभा टीका ने इसे रावणरचित नहीं माना है।

रावणभाष्यम्। बाल्यवार्धक्याद्यैर्देहविकारैर्विरहितः युवा मुख्यप्राणः। सुष्ठु वासः प्रावरणं यस्य सत्त्वाकारान्तःकरणवृत्ति-प्रतिबिम्बितशरीरावृतः सन्। अगात् जीवदशां प्राप्तः। उ इति निश्चयेन। स जायमानः प्रादुर्भूतः सन् सत्कर्मनिरतो भवति। स स्वाध्यः सुखेनाऽऽराध्यः। तमेवंविधम्। धीरासः दृढव्रताः। कवयः क्रान्तदर्शिनो ज्ञानिनः। देवयन्तो देवत्वं प्राप्तुमिच्छन्तः। मनसा सह उन्नयन्ति सुषुम्नाविवरेण ऊर्ध्वं नयन्ति॥

परिशिष्ट ४

रावण द्वारा उद्धृत प्रमाणों की सूची

प्रमाण	ग्रन्थसंकेत	पृष्ठ	मन्त्रसं०	ऋक्संकेत
अप्राणो ह्यमनाः	मुउ० २।१।२	१३	१३	१०।१२९।२
अविद्या च तथा विद्या जीव ईश्वर एव च । तत्कृतौ बन्धमोक्षौ च षडस्माकमनादयः ॥	पाटि० ३	९	१०	१०।११४।३
आत्मनात्मानमद्वैते भूत्वा सच्चित्सुखात्मकः । स्थीयते यत्कियत्कालं सोऽन्तर्यागः स्मृतो बुधैः ॥		५	५	१०।७१।८
आनीदवातम्	ऋ० १०।१२९।२	१२	१२	१०।१२९।१
उच्चा दिवि	ऋ० १०।१०७।२	९	९	१०।१०७।१
तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्	तैउ० २।६।१	१०	११	१०।११४।४
त्रिपादस्यामृतं दिवि	ऋ० १०।९०।३	१	१	१।२२।२०
न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः	य० ३२।३	७	७	१०।७१।१०
नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् न तस्य प्राणा उत्क्रामंत्यत्रैव समवलीयन्ते	५।१।३	६	६	१।७१।९

प्रमाण	ग्रन्थसंकेत	पृष्ठ	मन्त्रसं०	ऋक्संकेत
नान्यत्किंचन मिषत्	ऐउ० १।१	७	८	१०।८१।२
यथा स्वप्नमुहूर्ते स्यात् संवत्सरशतभ्रमः । तथा मायाविलासोऽयं जायते जाग्रति भ्रमः ।।		९	१०	१०।११४।३
लोका रजांस्युच्यन्ते	नि० ४।१९	१२	१२	१०।१२९।१
वा च्छन्दसि	पा० ६।१।१०६	१०	१०	१०।११४।३
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति	ऋ० १०।११४।५	११	११	१०।११४।४
स्वाधिष्ठानगते कुण्डे चिद्रूपं वह्निमुज्ज्वलेत् । जुहुयात् प्रणवेनात्र त्वमहंतां निवेदयेत् ।। आत्मनात्मानमद्वैते भूत्वा सच्चित्सुखात्मकः । स्थीयते यत् कियत्कालं सोऽन्तर्यागः स्मृतो बुधैः ।।		५	५	१०।७१।८

रावणभाष्यम्

परिशिष्टम् ५

भगवद्गीतायाः श्लोकानामनुक्रमणिका

अत्र त एव श्लोकाः संगृहीता येषां परमार्थप्रभाटीकायां रावणभाष्यमुद्धृतमुपलभ्यते ।

श्लोकप्रतीकः	प०प्र० टीका-पृष्ठम्	गीतायां स्थलसंकेतः	रावणभाष्ये पृष्ठम्	ऋग्विकल्पं मन्त्रसंख्या	ऋग्वेदीय-मन्त्रसंकेतः
अधिभूतं क्षरो भावः	६२२	८।४	४	२	१।१६४।२०
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या	७३७	९।३३	६	७	१०।७१।१०
तेषामेवानुकम्पार्थ	७५८	१०।११	३	४	१०।७१।६
दैवी ह्येषा गुणमयी	५८२	७।१४	९	१०	१०।११४।२
नैव तस्य कृतेनार्थो	२५६	३।१८	४	५	१०।७१।८
					१०।७१।९
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः	६९१	९।१०	७	८	१०।८२।२
			११	१२	१०।१२९।१
			१२	१३	१०।१२९।२
य इदं परमं गुह्यं	१३०७	१८।६८	८	९	१०।१०७।१
यतेन्द्रियमनोबुद्धि]	४४१	५।२८	१	१	१।२२।२०
स्पर्शान् कृत्वा]		५।२७	१	२	१।२२।२१

सायणभाष्यम्

परिशिष्टम् ६

मन्त्रानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकः	प्रविकला	मन्त्रसंख्या	भाष्यपृष्ठम्	ऋग्वेदीय-संकेतः	पप. टीकायां पृष्ठम्	गीतायाः श्लोकस्य संकेतः
आविरभून्महि माघोन०		९	८	१०।१०७।१	१३०७	१८।६६
इमे ये नार्वाङ् न परश्चन्ति		६	५	१०।७१।९	२५६	३।१८
एकः सुपर्णः स समुद्रमा		११	१०	१०।११४।४	५८२	७।१४
किं स्विदधिष्ठानं०		८	७	१०।८१।२	६९१	९।१०
चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा		१०	९	१०।११४।३	५८२	७।१४
तद्विप्रासो विपन्यवो		२	१	१।२२।२१	४४१	५।२७-२८
तद्विष्णोः परमं पदं		१	१	१।२२।२०	४४१	५।२७-२८
द्वा सुपर्णा सयुजा		३	२	१।१६४।२०	६२२	८।४
न मृत्युरासीदमृतं		१३	१२	१०।१२९।२	६९१–२	९।१०
नासदासीन्नो सदासीत्		१२	११	१०।१२९।१	६९१–२	९।१०
यस्तित्याज सचिविदं		४	३	१०।७१।६	७५८	१०।११
सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन		७	६	१०।७१।१०	७३७	९।३३
हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु		५	४	१०।७१।८	२५६	३।१८

रावणभाष्यम्

परिशिष्ट–७

रावणभाष्य के विषय में हाल का मत

[Some Remarks by Fitz-Edward Hall, Esq., D. C. L. about Rāvana and His Commentary reproduced from the Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal, Calcutta, Volume XXXI. Page 121.]

" That a Rāvana wrote annotations on some portion of the Veda, is hinted by Mallāri. (See Grahalāghava,........Calcutta Edition, Page 5). At Ajmer, at Gwalior, and elsewhere, pandits have, again and again assured me of their having seen, and even of their having possessed, the whole of Rāvana's Commentaries on the Rigveda and Yajurveda. And I hesitate to conclude, that therein they were cretizing; as I am unable to conceive why they should have wished to deceive me.

On the authority of the Bhāva-prakāsa. by Bhāva Miśra, son of Latakana Miśra, some Rāvana or other composed a Kumāra-tantra. A work of like title, Bhāva alleges, is ascribed to Sanatkumāra. "*

---

*N. B.—This extract was recorded somewhere in 1947. The issue of the Journal is not available in Jaipur for verification.

रावणभाष्यम्

परिशिष्ट—८

रावणभाष्य में व्याख्यात मन्त्रों के वेदादि साहित्य में उपलब्धिस्थान

[यहां प्रदत्त संकेत पुस्तकतालिका में निर्दिष्ट ग्रन्थों और संस्करणों से दिए गए हैं। इस संकलन में ब्लूमफील्ड के कान्कोर्डेंस आदि सूचियों से यथावश्यक सहायता ली गई है।]

मन्त्रप्रतीक	राभा. में मन्त्रसंख्या	वैदिकसाहित्य में उपलब्धिस्थल
आविरभून्महि माघोन०—	९	ऋ० १०। १०७। १; तु० क० बृदे० ८. २२.
इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति—	६	ऋ० १०। ७१। ९; बौधायन धसू० २। ६। ११। ३२
एकः सुपर्णः स समुद्रमा—	११	ऋ० १०। ११४ ४; ऐब्रा० ३। १। ६; नि० १०। ४६.
किं स्विदासीदधिष्ठान०—	८	ऋ० १०। ८१। २; य० १७। १८; तैसं० ४। ६। २। ४; मैसं० २। १०। २; कासं० १८। २;

मन्त्रप्रतीक	राभा. में मन्त्रसंख्या	वैदिकसाहित्य में उपलब्धिस्थल
		*कपिसं २८ । २ आश्रौसू० १ । ३ । ८ ।
चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशाः–	१०	ऋ० १० । ११४ । ३; कासं० ३१ । १४; तै० १ । २ । १ । २७; ३ । ७ । ६ । ४, ५; ७ । १४; आपश्रौसू० ४ । ५ । १; ६ । २; ११ । ५ । ३; [ऋग्वेदाद् अन्यत्र सर्वत्र पाठभेदो वर्तते] ।
तद्विप्रासो विपन्यवो–	२	ऋ० १ । २२ । २१; सा० १६७३; य० ३४ । ४४; नृसिंह-पूर्वतापनीउ० ५ । १०; वासु-देवउ० ४ । २; स्कन्दउ० १५; आरुणिउ० ५; मुक्तिकाउ० २ । ७८
तद्विष्णोः परमं पदम्–	१	ऋ० १ । २२ । २०; अवे० ७ । २६ । ७; सा० १६७२; य० ६ । ५; तैसं. १ । ३ । ६ । २; ४ । २ । ६ । ३; मैसं. १ । २ । १४; ३ । ६ । ४; कासं. ३ । ३; २६ । ५; *कपिसं. २ । १०;

*ये संकेत पं० सांतवलेकर द्वारा संपादित काठकसंहिता की पादटिप्पणियों से लिए गए हैं।

मन्त्रप्रतीक	राभा में मन्त्रसंख्या	वैदिकसाहित्य में उपलब्धिस्थल
		४१ । ३; श० ३ । ७ । १ । १८; आपश्रौसू० ७ । ११ । ४; १६ । २६ । ४; मानवश्रौसू० १ । ८ । २ । २४; विष्णुस्मृति ६४ । २०; लघु-व्याससंहिता २ । २१, ४२, ४४; गोपाल-तापनीउ० १; नृसिंहपूर्वताप-नीउ० ५ । १०; वासुदेव उ०४ । १; स्कन्दउ० १४; मुक्तिकाउ० २ । ७७; आरु-णिउ० ५; प्रतीकमात्रम्—तद्विष्णोः—काश्रौसू० ६ । ३ । १२; वृद्धहारीतस्मृतिः ५ । ५६६; ७ । १८५, १६०; ८ । ६, ६०, २४४; बृहत्पाराशरसं-हिता ५ । २५१; ६ । ६०, २१६; शंखसंहिता ७ । ३०, ३१; ऋग्विधानम् १ । १७ । ७; तु.क. रामायणम् ६ । ४२ । २५.
द्वा सुपर्णा सयुजा–	३	ऋ० १ । १६४ । २०; अवे० ६ । ६ । २०; मुण्डकउ० ३ । १ । १; नि० १४ । ३०.
न मृत्युरासीदमृतं–	१३	ऋ० १० । १२६ । २; तै०

मन्त्रप्रतीक	राभा० में मन्त्रसंख्या	वैदिकसाहित्य में उपलब्धिस्थल
		२।८।६।४; नि० ७।३; तु० क० बृदे० १।५८.
नासदासीन्नो सदासीत्-	१२	ऋ० १०।१२६।१; श० १०।५।३।२; तै० २।८।६।३; प्रतीकमात्रम्—नासदासीत्—वृद्धहारीतसंहिता ५।२६४; ४२४; ऋग्विधानम् ४।६।३; तु० क० बृदे० ८।४५; महा० १२।३४३।८
यस्तित्याज सचिविदं-	४	ऋ० १०।७१।६; ऐआ० ३।२।४; तैआ० १।३; २।१५;
सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन-	७	ऋ० १०।७१।१०; ऐ० १।१३; आश्रौसू० १।४।४
हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु-	५	ऋ० १०।७१।८; नि० १३।१३

रावणभाष्यम्

परिशिष्ट ९

निर्वचनसंग्रह

पद	निर्वचन	ऋग्वेदीयमंत्रसंकेत	मंत्रसंख्या	पृष्ठ
अप्रजज्ञयः	न प्रकृष्टा जज्ञिर्जन्म येषां ते।	१०। ७१। ९	६	६
अह	अहम्। अहेत्यवानुस्वारलोपश्छान्दसः।	१०। ७१। ८	५	५
आरम्भणम्	आरभ्यतेऽनेनेति।	१०। ८१। २	८	७
ईम्	बहिर्मुखम्। (√ ई जाना से)।	१०। ७१। ६	४	४
चतुष्कपर्दा	चत्वारः कपर्दा उत्कर्षा यस्याः सा।	१०। ११४। ३	१०	९
पदम्	अभिव्यक्तिस्थानम् (√ पद् जाना से)।	१। २२। २०	१	१
परः	सकारान्तमव्ययम्।	१०। ७१। ९	६	५
भागधेयम्	अर्थप्रकाशसामर्थ्यं द्योतयन्त्यर्थान् प्रकाशयन्ति।	१०। ११४। ३	१०	१०

पद	निर्वचन	ऋग्वेदीयमंत्रसंकेत	मंत्रसंख्या	पृष्ठ
माघोनम्	इन्दति जानातीति व्युत्पत्त्या मघोन इन्द्रस्य परमात्मन इदं माघोनम् ।	१० । १०७ । १	६	८
वयुनानि	ज्ञानानि ।	१० । ११४ । ३	१०	९
विष्णोः	व्यापनशीलस्य ।	१ । २२ । २०	१	१
वृषणा	वृषणौ सदसत्फलवर्षितारौ । द्विवचनस्य "वाच्छन्दसि" इत्यात्वम् ।	१० । ११४ । ३	१०	१०
सखाया	समानख्यानौ (स+√ख्या) ।	१ । १६४ । २०	३	३
सचिविदम्	सचीन् सखीन् परमप्रेमास्पदविषयान् वेत्तीति ।	१० । ७१ । ६	४	३
सभासाहेन	सभामिन्द्रियसभां लौकिकव्यवहारं वा सहते आक्रमते तथाविधेन ।	१० । ७१ । १०	७	७
समुद्रम्	समुन्दयति तिरोधत्ते एवं प्रपञ्चम् ।	१० । ११४ । ३	१०	१०
सयुजा	समानयोगौ (स+√युज् से)	१ । १६४ । २०	३	३

पद	निर्वचन	ऋग्वेदीयमंत्रसंकेत	मन्त्रसंख्या	पृष्ठ
सुतेकरासः	सुतं सोममभिसृतं कुर्वन्तीति ।	१० । ७१ । ६	६	६
सुपर्णा	सुपर्णौ सुपतनौ[1] शोभनगमनौ ।	१ । १६४ । २०	३	३
	शोभनपतनौ जीवेश्वरौ पक्षिणाविव ।	१० । ११४ । ३	१०	१०
सुपेशा	सुतरां पेशला कुशलाऽघटितघटनपटीयसी	१० । ११४ । ३	१०	६
स्वधा	स्वस्मिन् ध्रियते कल्प्यते सा स्वधा, तया ।	१ । १२६ । २	१३	१३

१. यास्क ने भी नि० ३ । १२; ४ । ३ में यही व्युत्पत्ति दी है । एया० इस लेख का भाव यह समझते हैं कि यहां √ पत् से 'पर्ण' बनाया गया है । वे इसे असम्भव मानते हैं । परन्तु स्थिति कुछ भिन्न है । निघं० १ । १० । ७ आ में 'पर्णानः' मेघनामों में पढ़ा गया है । अतः 'पर्ण' का गति से सम्बन्ध सुनिश्चित है । धातुपाठ में √ पर्ण् का अर्थ 'हरा होना' है । वह उपयुक्त नहीं । यदि इसे √ पृ व्यायामे व्यापारे च (तुदादि० आ०) से 'न' प्रत्यय लगा कर व्युत्पन्न करें, तो 'पर्ण' के यास्क और रावण को अभिप्रेत अर्थ और निर्वचन अनायास मिल जाएंगें ।

रावणभाष्यम्

परिशिष्ट—१०

दैवज्ञ पण्डित सूर्य द्वारा व्याख्यात मन्त्रों की तालिका

यहां निर्दिष्ट मन्त्रों के भाष्य से पूर्व दैवज्ञ पण्डित सूर्य ने केवल 'भाष्यम्' पद का प्रयोग किया है, अथवा कुछ निर्देश न दे कर सीधी व्याख्या प्रस्तुत कर दी है, जब कि रावणभाष्य में संकलित भाष्य से पूर्व सर्वत्र 'रावणभाष्यम्' पद लिखा है। जब तक रावण का समस्त ऋग्भाष्य न मिले, तब तक तुलना के अभाव के कारण निश्चयाभाव से, रावणशब्दविहीन भाष्य को सूर्य पण्डित का अपना व्याख्यान कहना अधिक उपयुक्त होगा। अतः अधोदत्त मन्त्रों का भाष्य रावणभाष्य में संकलित न कर अलग से सूर्य पण्डित के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। अध्ययन और तुलना आदि की सुविधा के लिए यहां केवल उन मन्त्रों के संकेत दिए जा रहे हैं—

यहां ऋग्वेद गीता के अध्याय और श्लोक तथा परमार्थ प्रभा टीका के पृष्ठों का क्रम से निर्देश किया गया है।

ऋक्	गीता श्लोक	टीकापृष्ठ	ऋक्	गीता श्लोक	टीकापृष्ठ
१. १. १	१८.४८	१२५५	१०.७९.१	८.२०	६५५
★१.३०.१३	६.३२	७३५	१०.८१.१	६.६	५५६
१.५०.१०	८.४	६२३	१०.८१.३	१३.१३	९४८
१.६५.१	१.१.	१२	१०.८१.४	१०.४२	७९२

ऋक्	गीता श्लोक	टीकापृष्ठ	ऋक्	गीता श्लोक	टीकापृष्ट
१.१२३.७	८.१७	६४६	१०.८१.५	६.२६	७२८
१.१५४.१	६.४०	८३६	१०.८१.६	१०.११	७५६
१.१५४.६	६.३२	७३४	१०.८२.३	११.३८	८३७
१.१८६.१	८.२४	६६३	१०.८२.६ (२रा पाद)	८.२५	६०४
३.८.४	८.१२	६३९-४०	१०.८२.७	७ २५	६०४
३ ६२.१०	१०.३५	७८५	१०.८४.७	११ ३३	८२८
			१०.८५.१८	१.१	१२
★ ४.३.१	६.३३	७३७	१०.८५.१६	८.१८	६५१
★ ४.३१.१	११.३	७६७	१०.८७.१-२	११.३०	८२४
४.४०.५	६.१५	७०३	१०.८८.५	८.२५	६६६
			१०.६०.१	११.७	८०१
★ ६ ४६.१	११ ३३	८२८	१०.११७.६	३.१३	२४४
			१०.११७.८	६.३८	८३७
★ ७.३२.२२	६.४०	८४०	१०.१२१.१	६.२४	७१८
			१०.१२५.१	१०.२१	७६६
८.६.३०	८ ४	६२३	१०.१२५.४	६.११	६६५
★ ८ १६ ३०	६ ३२	७३४	१०.१२५.५	१८.५६	१२७७
★ ८.८८.१	६.२१	८१६.	१० १२५.६	११.३३	८२६
			१०.१६१.२	७.६	५८६
१०.५८.१	१५ १०	१०३७.	१०.१७७.१	१८.२४	६७७
			१०.१६०.१-३	८.१८	६५१

यजुर्वेद के भी नीचे लिखे मन्त्रों पर सूर्य पण्डित ने भाष्य प्रस्तुत किया है :—

यजुः	गीता श्लोक	टीकापृष्ठ	यजुः	गीता श्लोक	टीकापृष्ठ
४०.१	५.१६	४१७	४०.६	६.२९	५०५
४०.२	३.४	२३१	४०.७	६.३१	५०६

ऊपर निर्दिष्ट तारकांकित ऋङ्मन्त्रों का भाष्य सामवेद के निर्देश से सामगान सहित प्रस्तुत किया गया है। सौकर्य के लिए सामवेदीय स्थल यहां निर्दिष्ट किए जाते हैं।

साम	ऋक्	गीता श्लोक	टीका पृष्ठ	साम	ऋक्	गीता श्लोक	टीका पृष्ठ
६९	४.३.१	९.३३	७३७	२३४	६.४६.१	११.३३	८२८
१०८	८.१९.३	९.३२	७३४	२३६	८.६८.१	११.२१	८१६
१५३	१.३०.१३	९.३२	७३५	६८०	७.३२.२२	११.४०	८४०
१६९	४.३१.१	११.३	७९७	६८२	४.३१.१	११.३.	७९७
२३३	७.३२.२२	११.४०	८४०				

यहां निर्दिष्ट ऋचाओं के अतिरिक्त भी कतिपय अन्य ऋचाओं के अंशों को सूर्य पण्डित ने उद्धृत कर उन का व्याख्यान किया है। उन्हें यहां विशेष उपयोगी न होने से निर्दिष्ट नहीं किया गया है।

रावणभाष्यम्

परिशिष्ट—११

पदकोष

इस कोष में क्रमशः मूलपद, ऋग्वेदीय मन्त्रसंकेत, रावण-भाष्य में मन्त्र की क्रमसंख्या, संस्कृतभाष्य का पृष्ठ, हिन्दी अनु-वाद का पृष्ठ, रावणभाष्य का अर्थ तथा अन्य भाष्यकारों आदि के अर्थ रक्खे गए हैं।

अत्ति--ऋ. १ । १६४ । २०—मं० ३, पृ० २; १६—**खाता है ।** आत्मानन्द—चखता है, स्वाद लेता है। नि०—खा कर प्राप्त करता है।

अत्र--ऋ. १० । ७१ । ८—मं० ५ पृ० ४; २०-साभा०—इस ब्राह्मणसंघ में। नि०--इस कर्म में।

अदर्शि—ऋ० १० । १०७ । १—मं० ६ पृ० ८; २३—**देखा गया । दिखाई दिया ।** साभा०—सब यजमानों द्वारा देखा गया है। सब ने याग कर के ऋत्विजों को दक्षिणा दे दी है।

अधिष्ठानम्—ऋ० १० । ८१ । २—मं० ८ पृ० ७, २२—**प्रलय काल में जगत् का संहार कर के फिर जगत् की रचना के लिए द्युलोक और पृथिवीलोक को उत्पन्न करते समय अधिष्ठान ।**

अनश्नन्–ऋ० १। १६४। २०—मं० ३ पृ० ३; १६—**न खाता हुआ।** आत्मानन्द–न खाते हुए भी। नि०–[बिना भोग के] तत्त्व का जानकार।

अन्ततः–ऋ० १०। ११४। ४—मं० ११ पृ० ११; २५—**अन्दर ही अन्दर।** नि०—समीप में ही।

अन्यः–ऋ० १। १६४। २०—मं० ३ पृ० ३; १६—(i) **एक** (ii) **दूसरा।** वेमा०—एक सोम। आत्मा (i) एक जीव (ii) दूसरा परमात्मा। पैंगरहस्य के १. बुद्धि २. जीव का भी यही भाव है। बुद्धि जीवोपाधि होने से संसारी जीव का और जीव परमात्मभाव को प्राप्त जीव का बोधक हो कर परमात्मा का वाचक है।

अपश्यम्–ऋ० १०। ११४। ४—मं० ११ पृ० ११; २५—**जैसे ही मैंने देखा वैसे ही।**

अपि ऋ० १०। ७१। ६—मं० ४ पृ० ३; १६—**भी**। दस० —कुछ भी।

अप्रजज्ञयः–ऋ० १०। ७१। ६—मं० ६ पृ० ६; २१—**अप्रकृष्ट (=निकृष्ट) जन्म वाले।**

अभिचाकशीति–ऋ० १। १६४। २०—मं० ३ पृ० ३; १६–**देखता रहता है।** वेमा०—उस को देखता है, इन्द्र सोम को पीता है। आत्मानन्द—सब ओर खूब चमकता है। नि०–अन्य सरूपता सलोकता का अनुभव करता है।

अभिपद्य—ऋ० १० । ७१ । ६—मं० ६ पृ० ६; २१—जान कर ।

अमृतम्—ऋ० १० । १२६ । २—मं० १३ पृ० १३; २७—मोक्ष ।

अर्वाङ्—ऋ० १० । ७१ । ६—मं० ६ पृ० ५; २०—मनुष्य लोक में ।

अलकम्—ऋ० १० । ७१ । ६— मं० ४ पृ० ४; १६—अलीक=असत्य, झूठ ।दस०—अर्थ प्रयोजन रहित । साभा०-अलीक व्यर्थ । अलीक श्रवण (ऐआ०); निष्फल श्रवण ।

अवातम्--ऋ० १० । १२६ । २—मं० १३ पृ० १३; २७—प्राण के बिना नाम और गोत्र से हीन ।

असत्--ऋ० १० । १२६ । १—मं० १२ पृ० ११; २५—प्रलय अवस्था में स्थित इस जगत् का मूल कारण शशविषाणवत् नीरूपाख्य असत् नहीं था क्यों कि उस से सत् जगत् की उत्पत्ति संभव नहीं । मनु०—पालक ।

अह—ऋ० १० । ७१ । ८—मं० ५ पृ० ५; २०— मैं । साभा०-यह विनिश्चय में आया है । नि०—तब ?

आगात्—ऋ० १० । १०७ । १—मं० ६ पृ० ८; २३—उन आचार्यों को प्राप्त हुआ-परिपक्व हुआ । साभा०—(सूर्य) आता है (=निकल रहा है) ।

आततम्–ऋ० १ । २२ । २०—मं० १ पृ० १; १७-१८— i) **मानो फैला कर** (ii) **अपरिच्छिन्न रूप में**। साभा०–सब ओर प्रसृत=फैला हुआ (या) विस्तारित (अवे० ७ । २६ । ७) । दस०– १. चक्षु और पद दोनों के पक्ष में–फैला हुआ, विस्तृत । २. देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित (ऋभाभू०) । ३. व्याप्तिमत् (य०)

आनीत्–ऋ० १० । १२६ । २—मं० १३ पृ० १३; २७— **(कर्तृ रूप में था, मायाशबलित सूत्रात्म संज्ञक) शुद्ध ब्रह्म (ही था ।)**

आरम्भणम्-ऋ० १० । ८१ । २--मं० ८ पृ० ७; २२— **आरम्भ करने का साधन--उपादान कारण ।**

आवरिवः–ऋ० १० । १२६ । १-मं० १२ पृ० १२, २६— **आवरक, आच्छादक ।**

आविवेश–ऋ० १० । ११४ । ४--मं० ११ पृ० १०; २४— **प्रविष्ट हुआ है**। ऐआ०–संधान, मेल, सम्पर्क है।

इमे–ऋ० १० । ७१ । ६-मं० ६ पृ० ५, २०—**ऊपर वर्णित गुणों वाले पुरुष ।**

इव–ऋ० १ । २२ । २०-मं० १ पृ० १; १८-(i) **मानो** (ii) **एव = ही**। साभा०–जैसे। ये इसे दृष्टान्त में उपमार्थक मानते हैं। उवट–अनर्थक है।

ईम्–ऋ० १० । ७१ । ६–मं० ४ पृ० ४; १६– **अव्यय है। बहिर्मुख रूप से।** दस०–शब्द को । साभा०—यह पुरुष। वेदार्थश्रवण (ऐआ०)।

उ–ऋ० १० । ७१ । ८–मं० ५ पृ० ५; २०– **निर्धारण में आया है; निःसन्देह ।** साभा०–प्रसिद्धि में है ।

--ऋ० १०। ११४ । ४–मं० ११ पृ० ११; २५-- **निश्चित रूप से ।**

उरुः—ऋ० १० । १०७ । १—मं० ६ पृ० ८; २३–**मोक्षार्थियों के लिए असीम फल वाला ।** साभा० (दक्षिणा का) महान् (मार्ग)

एकः– ऋ० १० । ११४ । ४–मं० ११ पृ० १०; २४ — **एक ही, अकेला ही ।**

एषाम्-- ऋ० १० । १०७ । १—मं० ६ पृ० ८; २३—**इन आचार्यों का**। साभा०—इन यजमानों के यज्ञ की सिद्धि के लिए।

ओहब्रह्माणः—ऋ० १० । ७१ । ८—मं० ५ पृ० ५; २०-- **सब ओर से ब्रह्म का अनुमान करने वाले, पदार्थों की प्रतीति (–पहचान, सत्यज्ञान) से ब्रह्म को जाननेवाले।**

--साभा० —**ओहब्राह्मणाः**–विद्याश्रुतिमतिबुद्धि लक्षण ब्रह्म जिन के द्वारा ऊह्यमान है ।

—**ओहब्राह्मणा विचरन्त्यु**—नि०—ऊहब्रह्म वाले। अथवा ब्रह्म के खोजी। यही श्रुतिमति बुद्धि विद्या है। तप से इस का पार पाना चाहिए। आयु की कामना करने वाला इस का व्याख्यान न करे [अतः छन्दों में शेष (भाव) का ग्रहण कर लेना चाहिए]। इसी भाव का पोषक आगम का वचन है—जिस-जिस देवता को पूर्णतः कहता है उस-उस के तद्भाव (= स्वरूप) को अनुभव करता है।

कतमत्—ऋ० १०।८१।२-मं० ८ पृ० ७; २२-**क्या?** **अर्थात् वह भी न था।** (ऋभाभू० में दस० का 'कतमः' का अर्थ-अत्यन्त आनन्द मे युक्त)। आश्रौसू०—प्रजापति।

कथा—ऋ० १०।८१।२—मं० ८ पृ० ७; २२— **उत्पन्न होता हुआ उपादान कारण कैसा था-सत् या असत्। दोनों ही उत्पन्न नहीं होते हैं। अगर सत् हो तो अद्वैत का खण्डन होगा और असत् हो तो उस से द्युलोक और पृथिवीलोक की उत्पत्ति हो नहीं सकती।** आश्रौसू० — प्रजापति।

किंचन—ऋ० १०।१२९।२- मं० १३ पृ० १३;२७—**कुछ भी।**

किंस्वित्—ऋ० १०।८१।२—मं० ८ पृ० ७; २२—**क्या, अर्थात् कुछ भी नहीं।** आश्रौसू०— प्रजापति।

कुहकस्य—ऋ० १०।१२९।१—मं० १२ पृ० १२; २६— (जैसे) **ऐन्द्रजालिक का।**

गतेन—ऋ० १० । ७१ । १०—मं० ७ पृ० ७; २१—**प्राप्ति से (= परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर के)।**

गभीरम्—ऋ० १० । १२९ । १—मं० १२ पृ० १२; २६—**अक्षोभ्य ।**

घृतप्रतीका—ऋ० १० । ११४ । ३—मं० १० पृ० ६; २४—**घी के समान मधुर प्रारम्भ वाली और परिणाम में विषवत् ।** कासं०—जनमात्र के लिए (वर्षारूप/कामनापूर्तिरूप) घी दोहने वाली अदिति=अखण्ड और अदीन ।

चक्षुः—ऋ० १ । २२ । २०—मं० १ पृ० १ ; १७—**अर्थ-प्रकाश ।** साभा०—आंख । जैसे अच्छी प्रकार खोली हुई 'आंख निरोध के अभाव से विशद रूप में देखती है, तद्वत्; सब का चक्षुः-स्थानीय सूर्यमण्डल (अवे० ७ । २६ । ७)। दस०—१. नेत्र । २. जिस से देखता है। वेमा० १. तेजस् । २. आंख । स्कन्द टि०—१—आदित्यमण्डल=विष्णु; २. सब मनुष्यों की आंख; जैसे द्युलोकस्थ सूर्य एक होने पर जलों में अनेक हो जाता है, वैसे ही (विष्णु) एक होने पर भी प्रपञ्च से अनेक रूप होता है ।

चतुष्कपर्दा—ऋ० १० । ११४ । ३—मं० १० पृ० ६; २३—**चार उत्कर्षों (१. तरुणी २. अघटितघटनपटीयसी ३. प्रारम्भ में मीठी परिणाम में विषमय ४. ज्ञान की आवरक) वाली पहले उपक्रान्त (=वर्णित) माया ।** कासं०—चार शिखण्डों वाली ।

चन—ऋ० १० । १२६ । २—मं० १३ पृ० १३; २७—**भी** ।

जवेषु—ऋ० १० । ७१ । ८—मं० ५ पृ० ४; २०— **वृत्तियों रूपी मन के वेग** । साभा०—गन्तव्य वेदार्थों में गुण–दोष निरूपण (करने वाले)। नि०–प्रजवेषु=प्रकृष्ट, अत्यधिक वेगों में; मन्त्रार्थों मे ।

जागृवांसः—ऋ० १ । २२ । २१—मं० २ पृ० २; १८—**दृश्य प्रपञ्च दीर्घ स्वप्न से जागे=प्रबुद्ध हुए** । साभा०—शब्दार्थ में प्रमाद के अभाव से जागरूक विप्र । दस०—जागरूक—सत्कर्म में जागृत—अविद्या और अधर्म नामक नींद को छोड़ कर विद्या और धर्माचरण में जागृत । वेमा०—स्वप्न वर्जित (हुए) कर्मों से । स्कद्रि०—स्तुतियों से प्रमाद न करने वाले । उवट–महो०—असुप्त अप्रमत्त, ज्ञानकर्म का समुच्चय करने वाले ।

जीवम्—ऋ० १ । १०७ । १—मं० ६ पृ० ८; २३—**जगत्** । साभा०—स्थावर जंगमात्मक जगत् ।

ज्योतिः—ऋ० १० । १०७ । १—मं० ६ पृ० ८; २३—**ज्ञान** । साभा०—सूर्य नामक प्रकाश ।

त एते—ऋ० १० । ७१ । ६—मं० ६ पृ० ६; २१—**ऊपर निर्दिष्ट स्वरूप वाले ब्राह्मण और सुतेकर (=सोम निकालने वाले याज्ञिक)** ।

तत्—ऋ० १ । २२ । २०—मं० १ पृ० १; १७—**किम्-सुख स्वरूप (?)** । साभा०—शास्त्र में प्रसिद्ध । दस०–उक्त या

वक्ष्यमाण। उवट–जो विज्ञानघनबहुल आनन्द स्वभाव वाला है उस को।

–ऋ० १। २२। २१–मं० २ पृ० १; १८––**इस कारण।** साभा०––उस (पद को)। उवट–उस विष्णु=यज्ञ के।

–ऋ० १०। १२९। २—मं० १३ पृ० १३; २७—**शुद्ध ब्रह्म।** वानिस०—निरुपम तेजोनिधान जगद्व्यापारकारण मण्डल।

तन्त्रम्–ऋ० १०। ७१। ९–मं० ६ पृ० ६; २१–**यज्ञ आदि।**

तन्वते–ऋ० १०। ७१। ९—मं० ६ पृ० ६; २१– **विस्तार करते हैं, आडम्बर करते हैं।**

तम्–ऋ० १०। ११४। ४—मं० ११ पृ० ११; २५—**उस सुपर्ण को।**

तमसः–ऋ० १०। १०७। १—मं० ९ पृ० ८; २३—**अज्ञान से।** साभा०–अन्धकार के चंगुल (–सकाश) से।

तयोः–ऋ० १। १६४। २०–मं० ३, पृ० ३; १९– **उन दोनों में से।** आत्मानन्द–उन के बीच में।

तष्टेषु–ऋ० १०। ७१। ८–मं० ५ पृ० ४; २०—**निराकृत।** साभा०–निश्चित, परिकल्पित।

तस्याम्–ऋ० १०। ११४। ३–मं० १० पृ० ९; २४—**ऊपर वर्णित गुणों वाली माया में।**

तित्याज—ऋ० १० । ७१ । ६—मं० ४ पृ० ३; १६—**छोड़ दिया है अर्थात् ईश्वर (= आत्मा) से बहिर्मुख—विमुख है** । दस०—छोड़ देता है, अर्थात् औरों से मित्रभाव नहीं रखता। साभा०—परार्थ विनियोग से त्याग देता है। ऐपा०—अपने में उपासना न कर दूसरों को ही उपदेश देता है।

त्वम्—ऋ० १० । ७१ । ८—मं० ५ पृ० ५; २०—**तुम** । साभा०—अर्थ को न जानने वाले एक पुरुष को। नि०—एक(अपात्र) (जन)।

त्वे—ऋ० १० । ७१ । ८ – मं० ५ पृ० ५; २०—**तू** । नि०—अन्य (ब्राह्मण) ।

दक्षिणायाः—ऋ० १० । १०७ । १—मं० ६ पृ० ८; २३—**आत्मा रूपी दक्षिणा** । साभा० – याग की अंगभूत दक्षिणा का ।

दत्तम्—ऋ० १० । १०७ । १ – मं० ६, पृ० ८; २३ – **दिया गया (चढ़ाया गया)** । साभा० –(हवियां लाने के लिए हमें देवों द्वारा) दिया गया (सूर्य) ।

दधिरे—ऋ० १० । ११४ । ३—मं० १० पृ० १०; २४—**धारण किए हुए हैं** ।

दिवि—ऋ० १ । २२ । २०—मं० १ पृ० १; १७—**सिर पर भ्रुओं के बीच में** । साभा०—जैसे आकाश में; द्युलोक में (अवे. ७ । २६ । ७) । दस०—जैसे सूर्य आदि के प्रकाश में वैसे विमल शुद्ध ज्ञान से विद्यासुविचारयुक्त शुद्ध सब की अपनी

आत्मा में। सप्र० में द्यु=शुद्ध पदार्थ। वेमा०—अन्तरिक्ष में। स्कट्टि० द्युलोक के सदृश विष्णु में।

देवाः— ऋ० १०। ११४। ३—मं० १० पृ० १०;२४— **चक्षु आदि**। दस०—क्रीडा आदि दश अर्थ वाले √ दिव् से—खेलने वाला, विजय का इच्छुक, व्यवहार कराने वाला, चराचर जगत् का द्योतक, स्तुति किए जाने वाला, आनन्दमय, आनन्दप्रद, सुलाने, इच्छा करने, इच्छा किए जाने, जाने और प्राप्त किए जाने वाला (सप्र०); मन, श्रोत्र आदि छै इन्द्रियां और उन के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य; प्रकाश में रमणशील (ऋभाभू०)।

द्याम्—ऋ० १०। ८१। २—मं० ८ पृ० ८; २२— **द्युलोक**। दस०—किरण, आदित्य की किरणें, प्राण, सूर्य आदि, प्रकाशमय परमेश्वर (ऋभाभू०)।

द्वा—ऋ० १। १६४। २०—मं० ३ पृ० ३;१८— **दो**। दस०—दो पखेरू (हिअ०); दो अनादि नित्य जीव और ईश्वर (अन्वयः)। नि०—दो प्रतिष्ठित सुकृत धर्मकर्ता। दुष्कृत पाप को परिसारक कहते हैं)। आत्मा (=दुरात्मा) और परमात्मा।

न चरन्ति—ऋ० १०। ७१। ६—मं० ६ पृ० ५; २०—**उत्पन्न नहीं होते हैं। किए गए और न किए गए कर्मों के कारण उत्तम और अधम लोक को नहीं जाते हैं। यहीं भस्मीभूत हो कर रहते हैं।**

नन्दन्ति—ऋ० १०। ७१। १०—मं० ७ पृ० ७; २१— **परम आनन्द से भर जाते हैं।** ऐ० आनन्दित—हर्षित होते हैं।

न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः–ऋ० १०।७१। ९–मं० ६ पृ० ६; २१–**जाति से ब्राह्मण और सोम निकालने वाले उत्तम मध्यम और अधम गति को प्राप्त करते हैं।**

निरमोचि–ऋ० १०।१०७।१–मं० ६ पृ० ८; २३–**छूटा, मुक्त हुआ।**

निषेदतुः–ऋ० १०।११४।३–मं० १० पृ० १०; २४–**बैठे हैं।**

पदम्-ऋ० १।२२।२०–मं० १ पृ० १; १७–**अभिव्यक्ति-स्थान।** साभा०–स्वर्गस्थान। अथवा, ज्ञातव्य तत्त्व (अवे० ७।२६।७) दस०–खोजने, चाहने, जानने या प्राप्त करने योग्य स्वर्ग; सर्वानन्दयुक्त प्राप्त करने योग्य मोक्ष नामक पद (भावार्थ) सर्वोत्तम उपायों से प्रापणीय मोक्षस्थान (ऋभाभू०)। वेमा०—स्थान। मही०—स्वरूप। श० ३।७। १।१८–१. चषाल २. विजिति। मन्त्र का भाव—यूपोच्छ्रयी वज्र को त्याग कर विष्णु की विजिति को देखता है।

पन्थाः—ऋ० १०।१०७।१–मं० ६ पृ० ८; २३—**मार्ग।** साभा०— दक्षिणा का) मार्ग। तैआ०—सुख।

पन्थाम्–ऋ० १०। ७१। ६–मं० ४ पृ० ४; १६ – **मार्ग।** साभा०—(अनुष्ठान—) मार्ग (ऐआ०)।

परः–ऋ० १०।७१।९—मं० ६ पृ० ५; २१–**परले देव-लोक में भी।**

—ऋ० १० । १२६ । १–मं० १२ पृ० १२; २६--**अन्तरिक्ष से परे द्युलोक आदि सत्यलोक पर्यन्त जो कुछ है वह (न था)। इस से ब्रह्माण्ड का निषेध हो जाता है।**

—ऋ० १० । १२६ । २—मं० १३ पृ० १३:२७—**परे, आगे, समाप्ति पर।**

परमम्—ऋ० १ । २२ । २०–मं० १ पृ० १; १७–**पारमार्थिक (अभिव्यक्तिस्थान) । सत्यज्ञानानन्दात्मक (पद)।** साभा०—उत्कृष्ट (अवे० ७ । २६ । ७ में), अथवा पूर्ण । दस०—सर्वोत्कृष्ट । वेमा०–उत्तम । ग्रिफि ऋअवे०–उच्चतम । उवट–परम पद = आदित्य ।

परमं पदम्—ऋ० १ । २२ । २१–मं० २ पृ० २; १८–**कहे हुए अनुभव किए जाते हुए पद को।** साभा०—परम पद । दस०–सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वोत्तम गुणों से प्रकाशित सब के द्वारा प्राप्त करने योग्य, निरन्तर रूप में सर्वव्यापी जगदीश्वर (रूपी पद) को । वेमा०—यज्ञ नामक । उवट–ब्रह्मलक्षण । श०–(विष्णु की) जीत । कासं०–यूप का उच्चतम भाग । काश्रीसू–चषाल । स्कन्द उप०–१. निर्वाण २. वेद का अनुशासन । नृसिंहपूर्वतापिनी उप०–मन्त्रराज नारसिंह का नित्य अध्ययन । लघुव्यास संहिता–आदि, मध्य और अन्त से रहित, नित्य हरि । ऋग्विधान--पापों और दोषों से शुद्धि ।

परिषस्वजाते–ऋ० १ । १६४ । २०—मं० ३ पृ० ३; १६—**आश्रय लेते हैं।** आत्मानन्द—सब ओर से आलिंगन करके (स्थित हैं)।

पश्यन्ति—ऋ० १ । २२ । २०—मं० १ पृ० १; १८—**साक्षात्कार करते हैं।** साभा०—शास्त्र दृष्टि से देखते हैं। दस० विमल शुद्ध ज्ञान के द्वारा प्राप्त कर के देखते हैं। तैसं०—१. स्थापन २. उपधान। मैसं०-स्वर्गलोक की समष्टि के निमित्त समुन्मार्जन। मुक्तिका उप० वासना के क्षय और शुभ मार्ग मे (राम में) स्थित हो जीवन्मुक्त होते हैं; मरने पर देहहीन मुक्ति । माश्रौसू—तीन बटों वाली (रस्सी) और स्वरु (–यूपशकल) से प्रहार–स्पर्श। स्कन्दउप०–अभेद का दर्शन।

पाकेन–ऋ० १० । ११४ । ४—मं० ११ पृ० ११; २५—**परिपाक से।** नि०–पाक। –परिपक्व ? । मन से।

पापया–ऋ० १० । ७१ । ६–मं० ६ पृ० ६; २१—**फल को आशा से।**

पितृभिः—ऋ० १० । १०७ । १–मं० ६ पृ० ८; २३— **हमारे से।** साभा०—पितर देवों से। दस० — विज्ञानवान् पालक (ऋभाभू०); सब का रक्षक (सप्र०)।

पिप्पलम्—ऋ० १ । १६४ । २०–मं० ३ पृ० ३; १६—**फल।** दस०—परिपक्व फल, पापपुण्यों से उत्पन्न या सुखदुःखात्मक भोग। नि०–(स्वादु पिप्पलम् का अर्थ)—अन्य सरूपता और सलोकता। आत्मानन्द—पीपली के समान बहुत दोषों से युक्त कर्मफल।

प्रकेतः–ऋ० १० । १२६ । २–मं० १३ पृ० १३; २७–**ज्ञान।**

ब्राह्मणाः—ऋ० १० । ७१ । ८–मं० ५ पृ० ४; २०— **ब्रह्म को जानने वाले।** नि०—ऋत्विज्।

ब्राह्मणासः—ऋ० १० । ७१ । ६—मं० ६; २१—**जाति मात्र से विप्र ।**

भागः—ऋ० १० । ७१ । ६—मं० ४ पृ० ३; १९—**सत्यत्व का अंश ।** दस०—अंश । साभा०—भजनीय कोई प्रयोजन (=अर्थ) । सुकृत [= पुण्य] (ऐआं०) ।

भागधेयम्—ऋ० १० । ११४ । ३—मं० १० पृ० १०; २४—**अर्थों के प्रकाश की शक्ति को प्रकट करते हैं—अर्थों को प्रकाशित करते हैं ।**

भुवनम्— ऋ० १० । ११४ । ४—मं० ११ पृ० १०; २५—**स्थूल प्रपंच रूप (जगत्) ।** नि०—सब प्राणी ।

मनसः—ऋ० १० । ७१ । ८—मं० ५ पृ० ४; २०—**मन से;** साभा०—गुण दोष निरूपण (करने वालें) । नि०—मनसाम्—मनों के (वेगों में) ; अर्थात्, मननयुक्त ।

मनसा—ऋ० १० । ११४ । ४—मं० ११ पृ० ११; २५—**बुद्धि-रूपी मन से ।** दस०—मनन-शील सत्, ज्ञान (ऋभाभू०) ।

महि—ऋ० १० । १०७ । १—मं० ९ पृ० ८; २३—**महत्त्व, महिमा** (वेला० मं० ५।१४ भी देखें) । साभा०—१ महान् तेज २. महान् ।

महिना—ऋ० १० । ८१ । २—मं० ८ पृ० ८; २२—**अपनी महिमा—महत्त्व से ।**

माघोनम्–ऋ० १० । १०७ । १––मं० ६ पृ० ८; २३ — **ज्ञानवान् इन्द्र परमात्मा का।** साभा०–मघवेन्द्रः । इन्द्रश्च-सूर्यः 'चैत्रमासे तयोरिन्द्रः' इति स्मरणात्, तस्य सम्बन्धि । सूर्यात्मक इन्द्र का अपना ।

माता–ऋ० १० । ११४ । ४––मं० ११ पृ० ११; २५–**माया।** दस०—मानकर्त्री (ऋभाभू०); सब जीवों का निर्माण करने वाला (ईश्वर) (सप्र०) । ऐआ०–वाक् । नि०––माध्यमिका वाक् ।

मृत्युः—ऋ० १० । १२६ । २—मं० १३ पृ० १३; २७–**केवल स्वरूप (ब्रह्म) जन्म मरण रूप बन्ध।**

य:—ऋ० १० । ७१ । ६–मं० ४ पृ० ३; १६––**पुरुष।**

यत्––ऋ० १ । २२ । २१–मं० २, पृ० २; १८—**कहे हुए के तुल्य** । वेमा० -सम्भवतः यज्ञ । ऋदी० के मत में इस का अर्थ नहीं दिया गया है ।

—ऋ० १० । ७१ । ६—मं० ४, पृ० ४; १६—**जो कुछ;** दस० (पवि०)—जो कुछ वह विद्वानों वा अविद्वानों के मुख से सुनता है । साभा०–वेदव्यतिरिक्त ।

—ऋ० १० । ७१ । ८––मं० ५ पृ० ४; २०—**जिस कारण।** साभा०–जब । जिस भी (ऐआ०) ।

यतः—ऋ० १० । ८१ । २––मं० ८ पृ० ७; २२—**अधिष्ठान और उपादान कारण।**

यत्र—ऋ० १० । ११४ । ३-मं० १० पृ० १०; २४-**जहां।**

यशसा—ऋ० १० । ७१ । १०-मं० ७ पृ० ७; २१—**परमात्मा।** ऐ०-खरीद कर लाया हुआ राजा सोम।

युवतिः—ऋ० १० । ११४ । ३—मं० १० पृ० ६; २३—**सदा तरुणी, कभी बुढ़ापे को प्राप्त न होने वाली।** तै०-यज्ञवेदि।

रजः—ऋ० १० । १२६ । १—मं० १२ पृ० १२; २६—**पृथिवी आदि लोकों के अभाव से व्यवहार सत्ता।**

रेरिह—ऋ० १० । ११४ । ४—मं० ११ पृ० ११; २५—**त्यागती है।** ऐआ०—आत्मसात् कर लेता है। नि०-आश्रित है।

वयुनानि—ऋ० १० । ११४ । ३—मं० १० पृ० ६; २४—**ज्ञान।** कासं०—सब ऐश्वर्य की कामनाएं।

वस्ते—ऋ० १० । ११४ । ३—मं० १० पृ० ६; २४—**ढकती हैं-उस से विपरीत स्वभाव होने कारण।** कासं०—मेरे लिए दोहन करे।

वाचम्—ऋ० १० । ७१ । ६—मं० ६ पृ० ६; २१-**फल की प्रतिपादक वेदवाणी** (तु० क० गी० २ । ४१—४४)।

वाचि—ऋ० १० । ७१ । ६-मं० ४ पृ० ३; १६-**पठन रूप वाणी में भी। इस का 'जल्पना' से वैषम्य बताया**

है । दस०—सुशिक्षित विद्या की वाणी में। साभा०—सम्पूर्ण लौकिक और शास्त्रीय वाणी में। अध्ययनसम्बन्धी (ऐश्रा०)। तैश्रा०-नाक-स्वर्गसुख ।

विचरन्ति—ऋ० १० । ७१ । ८—मं० ५ पृ० ५; २०—**अखण्ड एक रस के रूप में व्यवहार करते हैं।** साभा०—इच्छानुसार वेदार्थों में विनिश्चय के लिए प्रवृत्त होते हैं। नि०—भाग लेते हैं।

विचष्टे—ऋ० १० । ११४ । ४–मं० ११ पृ० ११; २५–**जानता है।**

विजहुः—ऋ० १० । ७१ । ८–मं० ५ पृ० ५; २०-**अन्तर्याग द्वारा भेदभावना को छोड़ चुके हैं।** साभा०-विशेष रूप से छोड़ते हैं।

विपन्यवः—ऋ० १ । २२ । २१–मं० २ पृ० १; १८—**मेधावी** । साभा०—विशेष रूप से स्तुति करने वाले। दस०—ईश्वर के विविध रूप गुणों की स्तुति करने वाले २. विशेष रूप से स्तुति के योग्य। वेमा०-विविध प्रकार से स्तुति करते हुए। स्कट्रि०–१. अनेकविध स्तुतियों के इच्छुक। २. अनेकविध स्तुतियों वाले। मही०–संसारव्यवहार से मुक्त निष्काम।

विप्रासः—ऋ० १ । २२ । २१–मं०२ पृ० १; १८- **श्रेष्ठमति विप्र।** सा०, वेमा०-मेधावी। उवट-मही०—ब्राह्मण। दस०-मेधावी योगी ।

विश्वचक्षाः—ऋ० १० । ८१ । २-मं० ८ पृ० ७; २२—**सर्वद्रष्टा परमेश्वर।**

विश्वम्—ऋ० १० । १०७ । १-मं० ६ पृ० ८; २३—**सब।** दस०-जिस में आकाश आदि सब भूत प्रविष्ट हैं अथवा जो आकाश आदि सब भूतों में प्रविष्ट है वह ईश्वर।

विष्णोः—ऋ० १ । २२ । २०-मं० १ पृ० १; १७—**व्यापन-शील परमात्मा।** साभा०-विष्णु सम्बन्धी। दस०-१. व्यापक आनन्दस्वरूप परमेश्वर का। २. पूर्वमन्त्र (य० ६ । ४) में प्रतिपादित जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, और संहृति का विधाता परमेश्वर। काश्रौसू०—यूप। तैसं०—यूप और स्वयमातृण्णादि। स्कन्द उप०—अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, अव्यय और वेदात्मक ब्रह्म = ब्रह्मा = शिव। मुक्तिका उप०—सच्चित् सुखात्मक चिन्मात्रविग्रह राम। वानिस०-आदित्यमण्डल। साभा० (अवे० ७ । २६ । ७ में)—व्यापक देव का। गोपालपूर्वतापिनी उप०—वृन्दावनवासी कृष्ण। ऋग्विधान-यज्ञ।

वृक्षम्—ऋ० १० । १६४ । २०-मं० ३ पृ० ३; १६—**देह के आकार रूपी वृक्ष पर।** दस०—कार्य कारण नामक। वेसा०-संवत्सर। आत्मानन्द-अस्चनीय देह। नि०-आत्मा (दुरात्मा) और परमात्मा (के प्रति उठता है)। यह शरीर में ही होता है। वृक्ष= ऋक्ष=शरीर। वृक्ष में (पक्षों को स्थापित करता है) अर्थात्-'शरीर। वृक्ष पर पक्षों का स्थापन करता है।' मुउप०-प्रकृति।

वृषणा—ऋ० १० । ११४ । ३-मं० १० पृ० १०; २४—**सत् और असत् फल की वर्षा करने वाले।**

वेद–ऋ० १० । ७१ । ६–मं० ४ पृ० ४; १६–**जानता है ।**

वेद्याभिः–ऋ० १० । ७१ । ८–मं० ५; २०–**विद्या, अभि-ज्ञान (आदि) वृत्तियों से । यहां पर 'विद्याभिर्ज्ञान-वृत्तिभिः' पाठ रहा हो सकता है — विद्याओं से = ज्ञान व्यापारों से = ज्ञान से ।** साभा०–वेदितव्य विद्याओं या प्रवृत्तियों से ।

व्योम–ऋ० १० । १२६ । १–मं० १२ पृ० १२; २६–**अन्तरिक्ष ।**

व्यौर्णोत्–ऋ० १० । ८१ । २–मं० ८ पृ० ८; १२–**रचा है ।**

शर्मन्–ऋ० १० । १२६ । १–मं० १२ पृ० १२; २६–(पहले वर्णित दृश्यजात जगत्) **अबाधित = निर्बाध ब्रह्म में ।**

शृणोति–ऋ० १० । ७१ । ६–मं० ४ पृ० ४; १६–**शास्त्र का श्रवण करता है ।** दस०–सुनता है । अर्थात् वह विद्या और ज्ञान के विना अर्थ का अनर्थ और अनर्थ का अर्थ समझ कर ।

सः–ऋ० १० । ११४ । ४ [२]–मं० ११, पृ० १०–११; २४–२५–**वह ।** ऐ प्रा०–प्राण ।

संयजन्ते–ऋ० १० । ७१ । ८–मं० ५ पृ० ४; २०–**अच्छी प्रकार अन्तर्याग (= आत्मचिन्तन आदि) करते हैं ।** साभा०–मिलते हैं–परस्पर में (नि०) ।

सखायः—ऋ० १० । ७१ । ८–मं० ५ पृ० ४; २०–
—ऋ० १० । ७१ । १०–मं० ७ पृ० ७; २१–

सब प्राणियों के परम सुहृत् । साभा०–समान ज्ञान वाले । नि०–समानाख्यान– एक-सी प्रवृत्ति वाले [ऋत्विज्] (मं० ५)

सखायम्–ऋ० १० । ७१ । ६–मं० ४ पृ० ३; १६--**मित्र-भूत परमात्मा ।** दस०–सर्वहितकारी मित्रों को । साभा०–अध्येतृ पुरुषों का अपने अर्थ का बोध कराने के कारण उपकारी होने से मित्रभूत । स्वार्थबोधक होने के कारण यथाशास्त्र अध्येताओं का मित्र वेद (ऐआ०) । ऐआ०–प्रज्ञा में चिन्त्य, महदुक्थ, अग्नि (=यज्ञ), महाव्रत, द्यु लोक, वायु आकाश, जल ओषधियों, वनस्पतियों, चन्द्रमा, नक्षत्रों और सब भूतों में ब्रह्माभिधान, संवत्सरसम्मान (=कालरूप=आदित्यरूप), चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, छन्दोमय, मनोमय और वाङ्मय परमात्मा ।

सखाया--ऋ० १ । १६४ । २०–मं० ३ पृ० ३; १६–**समान ख्यान (प्रसिद्धि, संज्ञा) वाले--परमेश्वर और जीव के, एक समान स्फुरण = एक रूप प्रकाश वाले । दस०**--मित्रवत् वर्तमान । वेमा०—सखा । आत्मानन्द–परस्पर में उपकारी ।

सख्या--ऋ० १० । ७१ । १०–मं० ७ पृ० ७; २१–**उपकारी ।**

सचि–ऋ० १० ७१ । ६ – मं० ४ पृ० ३; १६–**मित्र ।**

सचिविदम्–ऋ० १० । ७१ । ६–मं० ४ पृ० ३; १६–**मित्र-वत् परम प्रेम के पात्र विषयों को जानने वाला उप-कार कर्त्ता ।** दस०–सब से प्रीति प्रेम भाव से सब को सुख प्राप्त कराने वाले । साभा०-सखिवित् । वेद का अध्येता संप्रदाय

के उच्छेद का निवारक होने से वेद के प्रति उपकारी है। उस को जानने वाला। तैश्रा०-स्वाध्याय देव पवित्र।

सत्–ऋ० १०।१२६।१—मं० १२ पृ० ११; २५–**परमात्मा से भिन्न परमार्थ सत् मानने पर द्वैत की स्थिति बन जाती है, (जो अमान्य है)। अतः व्यवहार सत् भी (न था)।** श० १०।५।३।२-मन। दस०-तीनों कालों में अबाध सत्तावाला ब्रह्म (सप्र०) मनु०-सृजक शक्तियां।

सदा–ऋ० १ २२। २०–मं० १ पृ० १; १८–**अव्यवधान से, लागातार।** साभा०-सर्वदा। दस०—सब काल में।

सभासाहेन–ऋ० १०।७१।१०–मं० ७ पृ० ७; २१–**इन्द्रियों के समूह (= सभा) या लोकव्यवहार में प्रवृत्त हुए।**

समानम्–ऋ० १। १६४।२०—मं० ३ पृ० ३; १९—**एक (ही)।** दस०—एक, अव्यक्त परमाणु रूप कारण से उत्पन्न अनादि और नित्य कार्य। आत्मानन्द—एक (ही)।

समिन्धते–ऋ० १।२२।२१—मं० २ पृ० २; १८— **समृद्ध करते हैं, सर्वात्मरूप से देखते हैं।** साभा०-अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। दस०-अच्छे प्रकार प्रकाशित कर के प्राप्त होते हैं। उवट-उपासनाओं से निर्मल करते हैं। वेमा०-कर्मों से यज्ञ को संदीप्त करते हैं।

समुद्रम्—ऋ० १०।११४।४—मं० ११ पृ० १०;२५—**तिरोधान करने वाला प्रपंच।** दस०—जल से पूर्ण समुद्र या अन्तरिक्ष। ऐआ०—१. वाक् २. (ताक्ष्यं) रथन्तर साम ३. (कौण्ठरव्य)–प्राण।

सयुजा—ऋ० १।१६४।२०-मं० ३ पृ० ३; १८–**समान योग (= प्रवृत्तियों) वाले। योग = परस्पर तादात्म्य। आत्मा और जीवात्मा के स्वरूप से तादात्म्य नामक योग वाले।** दस०—समान सम्बन्ध वाले, व्याप्यव्यापक भाव से साथ मिले हुए सदा विलक्षण (जीव और ईश्वर)। वेमा०—लोकनिर्वहण में साथ युक्त। आत्मानन्द—एक दूसरे को न छोड़ते हुए।

सर्वे—ऋ० १०।७१।१०—मं० ७ पृ० ७; २१–**समस्त देहधारी।** ऐ०—यज्ञगत सभी जन।

सिरीः—ऋ० १०।७१।६—मं० ६ पृ० ६;२१—**कृषकों के सदृश हो कर।**

सुकृतस्य—ऋ० १०।७१।६-मं० ४ पृ० ४; १६—**सत्य ब्रह्म।** दस०—धर्म के। साभा०—सुकृतस्य पन्थां न हि प्रवेद = श्रद्धा के अभाव के कारण अनुष्ठान मार्ग को नहीं जानता है। इस कारण उस का श्रवण भी निष्फल है तैआ०—स्वर्ग।

सुतेकरासः—ऋ० १०।७१।६—मं० ६ पृ० ६; २१—**सोम निकालने वाले याज्ञिक।**

सुपर्णः-ऋ० १०।११४।४-मं० ११, पृ० १०;२४-**ईश्वर।** ऐआ०-१. प्राण; २. बृहत्साम (तार्क्ष्य)। ३. ऋग्वेद-(वसिष्ठ); ४. वाक्—(कौण्ठरव्य)—। नि०-जीवात्मा। निभा०-प्राण। ब्रह्ममुनि-मध्यस्थानीय वायु।

सुपर्णा-ऋ० १।१६४।२०—मं० ३ पृ० ३; १८-**लौकिक पक्षियों के समान शोभन गमन वाले क्षेत्रज्ञ और परमात्मा।** दस०-उत्तम पर्ण = गमन और आगमन आदि कर्म वाले, अल्प और अनन्त चेतनविज्ञानी जीव और ईश्वर। शोभन पालन या पूर्ण कर्मों वाला (परमेश्वर) (सप्र०); शोभनपतनशील (ऋभाभू०)। वेमा०-सुपतन आदित्य और सोम। साभा०—लोक में दो शोभनगमन वाले पक्षियों के समान जीव और परमात्मा। आत्मानन्द-अभ्युदय और निःश्रेयस रूप दो साधु पक्षों को धारण करते हुए अविद्यासिद्ध जीव और परमात्मा। —ऋ० १०।११४। ३-मं० १० पृ०१०; २४- **शोभन पतन वाले पक्षियों के समान जीव और ईश्वर।**

सुपेशा—ऋ० १०।११४। ३—मं० १० पृ० ६;२३-**अत्यन्त पेशल = कुशल। अघटितघटनपटीयसी।** कासं०—महान् सौभाग्य के लिए गृहीत उत्तम पत्नी = रक्षा करने वाली।

सूरयः--ऋ० १।२२।२०—मं० १ पृ० १;१७—**महानुभाव (विद्वान्)।** साभा०-ऋत्विज् आदि विद्वान्, मेधावी (अवे० ७।२६।७)। दस०-धार्मिक मेधावी पुरुषार्थयुक्त विद्वान्। २. वेद-वित् स्तोता (य०)। वेमा०--प्राज्ञ। स्कन्द—विद्वान् या स्तोता। ग्रिहिअवे०--राजकुमार (-प्रिसिज), यज्ञ कराने और पुरोहितों को

दक्षिणा देने वाले धनाढ्य यजमान । उवट—१. वेदान्तज्ञानरहस्य-विवृतसंपुट पण्डित २. अधियज्ञवित् पण्डित । महो०—वदान्तपारग । कासं०--ऋत्विज् और यजमान । ऋग्विधान--पाप करने वाले और दोष से दुष्ट (जन) ।

स्वधा--ऋ० १० । १२६ । २-मं० १३;२७--**अपने अन्दर ही कल्पित की गई माया से ।**

स्वादु--ऋ० १ । १६४ । २०-मं० ३ पृ० ३; १६--**स्वादुतर ।** आत्मानन्द-(बहुत दोषों वाले कर्मफल को भी) स्वादिष्ट मान कर। नि०--(स्वादु पिप्पलम्--) अन्य सरूपता और सलोकता ।

ह--ऋ० १० । १२६ । २-मं० १३ पृ० १३;२७-निश्चय से ।

हि--ऋ० । १० । ७१ । ६—मं० ४ पृ० ४; १६--**जिस से, क्यों कि, इस कारण ।**

हृदा--ऋ० १० । ७१ । ८-मं० ५ पृ० ४; २०—**बुद्धि रूपी (-मन से । विशेषण है)** । साभा०--बुद्धिमानों के हृदय से ।

परिशिष्ट १२

संक्षेपविवरण और पुस्तकतालिका

अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन, ५, १९४१ (दावेबि० १ में प्रदत्त लेख)

अवे०— अथर्ववेदसंहिता, परोपकारिणी सभा, अजमेर [२००१ वि० सं०]

आअवि०— दयानन्द सरस्वती, आर्याभिविनय, रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर, तृतीय संस्करण, [सं० १९९४]

आत्मानन्द— (अस्यवामीय भाष्य) अस्यवामस्य हिम, सम्पादक, सी. कुन्हन राज, गणेश एण्ड कं० (मद्रास) प्राइवेट लि०, मद्रास—१७ [१९५६]

आपश्रौसू०— आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्, दो भाग, सम्पादक टी० टी० श्रीनिवास गोपालाचार्य, मैसूर [१९४५; १९५४]

आरुणउ०— आरुणिकोपनिषद्, ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, बम्बई [१९३२], पृ० १३२–१३३

आश्रौसू०—	आश्वलायनश्रौतसूत्रम्, आनन्दाश्रम संस्कृत-सीरीज, पूना, [१९१७]
उ०—	उपनिषद्
उभा०, उवट—	[शुक्लयजुर्वेदसंहिता पर] उवटभाष्य, सम्पादक, वा. ल. शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, [१९२९]
ऋ०—	ऋग्वेदसंहिता, सम्पादक, श्रीपाद दामोदर सान्तबलेकर, औंध, [१९४०]
ऋअवेमा०—	दी ऋग्वेदानुक्रमणी ऑफ माधवभट्ट, सम्पादक, सी. कुन्हनराज, यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास, [१९३२] । ये अनुक्रमणियां ऋगर्थदीपिका में भी प्रत्येक अष्टक के प्रारम्भ में छपी हैं।
ऋग्विधानम्—	निर्णयसागर प्रेस, २६-२८ कोलभाटलेन, बम्बई से प्रकाशित ऋक्संहिता (मूल) [सन् १९३०] के अन्तर्गत, पृ० ४६-६५
(दी) ऋग्विधान—	अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका और टिप्पणियां, जे० गोण्डा, उटरेख्ट, १९५१
ऋग्वेदव्याख्या—	दो भाग, माधवकृता, सम्पादक, सी० कुन्हुन राज, अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास [१९३९; १९४७]
ऋदी०—	वेंकट माधव, ऋगर्थदीपिका, ४ भाग, सम्पादक, लक्ष्मणस्वरूप, मोतीलाल

बनारसीदास, लाहौर—बनारस–दिल्ली [१९३९, ४०, ४३, ५५]

ऋभाभू०— दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर, प्रथम संस्करण [१९९१ वि० सं०]

एग्लिंग— एफ० मैक्समूलर द्वारा सम्पादित सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट के अन्तर्गत जूलियस एग्लिंग का शतपथब्राह्मण का पांच भागों में अंग्रेजी अनुवाद, क्लेरेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड [१८८२–१९००].

ऐ०— ऐतरेयब्राह्मणम्, २ भाग, सम्पादक, व. ग. आपटे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना [१९३०, १९३१]

ऐआ०— ऐतरेय आरण्यकम्, सम्पादक काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना [१९३०]

ऐउ०— ऐतरेय उपनिषद्

काण्व०— काण्वसंहिता [यजुर्वेद], सम्पादक–श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, औंध, [१९९७ वि० सं०]

काश्रौसू०— कात्यायनश्रौतसूत्र, २ भाग, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस [१९२८, १९३९]

कासं०— काठक संहिता—सम्पादक श्रीपाद दामोदर सान्तबलेकर, औंध, [१९९९ वि० सं०]

गी०, गी० प०— भगवद्गीता, परमार्थप्रभाटीका, दैवज्ञ पण्डितसूर्य, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई [१९१२]

गोपालतापिनी उ०— गोपालतापिनी उपनिषद्, ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, बम्बई [१९३२], पृ० ५१४–५२१

ग्रिहिअवे०— दी हिम्ज् औफ दी अथर्ववेद, [अंग्रेजी अनुवाद], र० ट० ह० ग्रिफिथ, दो भाग, ई. जे. लजारस एण्ड कं०, बनारस [१९१६; १९१७]

ग्रिहिऋ०— दी हिम्ज् औफ दी ऋग्वेद [अंग्रेजी अनुवाद], र. ट. ह. ग्रिफिथ, दी चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी [१९६३]

जराएसब०— जर्नल औफ दी बाम्बे ब्रांच औफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई

छाब्रा०— गुणविष्णु, छान्दोग्य ब्राह्मण, सम्पादक-दुर्गामोहन भट्टाचार्य, संस्कृत कालिज, कलकत्ता, [१९५८]

छामब्रा०— गुणविष्णु, छान्दोग्यमन्त्र, सम्पादक-दुर्गामोहन भट्टाचार्य, संस्कृत साहित्य परिषत्, कलकत्ता, (१९३०) से ऋगर्थ-

दीपिका, भाग २ के परिशिष्ट ४ में उद्धृत अंश ।

तु; तु० क०— तुलना करो ।

तै०— तैत्तिरीयब्राह्मणम्, ३ भाग, सम्पादक, नारायण शास्त्री गौड़बोले, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना [१६३४; १६३८; १६३८]

तैआ०— तैत्तिरीयारण्यकम्, २ भाग, सम्पादक, बाबा शास्त्री फड़के,—वही—(१६३४, १६२७)

तैउ०— तैत्तिरीयोपनिषद्

तैसं०— तैत्तिरीयसंहिता, सम्पादक-श्रीपाद दामोदर सान्तबलेकर, औंध, [१६४५]

दभा०— दयानन्दभाष्य (दयानन्द सरस्वती के वैदिक मन्त्रों आदि के अपने ग्रन्थों और पत्रों आदि में भाष्य, विशेषतः ऋग्वेद-भाष्य ६ भागों में, यजुर्वेदभाष्य ४ भागों में और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उपलब्ध भाष्य)

दस०— वैदिकभाष्यकार और आर्यसमाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती स्वामी ।

द्र०— द्रष्टव्यम्

धातुपाठ— पाणिनीय धातुपाठ, सम्पादक—दयानन्द सरस्वती, अजमेर [सं० १६६१]

नि०—	यास्क, निरुक्त, सम्पादक—लक्ष्मणस्वरूप, दी यूनिवर्सिटी ऑफ दी पंजाब, लाहौर, [१९२७.]
निघं०—	यास्क, निघण्टु, सम्पादक—दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, पांचवीं बार [१९८९ वि० सं०]
नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्—	ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः बम्बई, [१९३२], पृ० १९२—२००
पं०—	पंक्ति ।
प१०—	दैवज्ञपण्डितसूर्य की गीता पर परमार्थप्रभा टीका, गुजराती प्रिण्टिंग प्रेस, बम्बई, [१९१२]
पा०—	पाणिनीयाष्टाध्यायी, तथा उस पर वामन जयादित्य की काशिकावृत्ति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, बनारस (१९८७ वि० सं०)
पाटि०—	पादटिप्पणी
पृ०—	पृष्ठ—म्
रावण एण्ड हिज़ कम्मेण्टरी—	फिट्ज़ एडवर्ड हाल, जर्नल ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, [१८६२], अंक ३१.

बृदे०— (दी) बृहद्देवता, सम्पादक—आ० ए० मैक्डोनल, हार्वार्ड यूनिवर्सिटी, केम्ब्रिज, मैसैचुसैट्स, [१९०४] (मूल)

बृहत्पाराशरसंहिता— धर्मशास्त्रसंग्रह, जीवानन्द, भाग २ (ब्लूमफील्ड वैदिक कान्कोर्डेंस में संकेतित), पृ० ५३ से

बौधायन धसू०— बौधायनधर्मसूत्रम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, बनारस, [१९३४]

वैदिक वाङ्मय का इतिहास (वेदभाष्यकार)—भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर, लाहौर।

मध्वभाष्य— छलारीय टीका सहित, (पत्राकार), कुंभकोण, [१८२३ शक संवत्]

मं०— मन्त्र

महा०— महाभारत, शान्तिपर्व, सम्पादक, श्रीपादकृष्ण बेल्वल्कर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, [१९५४]।

मही०— महीधर और उस का यजुर्वेद पर भाष्य। विवरण के लिए ऊपर उभा० देखें।

मानवश्रौसू०— मानवश्रौत सूत्र, सम्पादक और अनुवादक, ज० म० वान गेल्डर, इण्टरनैशनल एकैडेमी ऑफ इण्डियन कल्चर, नई दिल्ली, [१९६१, १९६३]

मुउ०— मुण्डकोपनिषद्

मुक्तिका उ०— मुक्तिकोपनिषद्, ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, बम्बई [१६३२], पृ० ५५६-५६३

मुपा०— मुद्रितः पाठः ।

मैसं०— मैत्रायणी संहिता, सम्पादक, श्रीपाद-दामोदर सान्तबलेकर, औंध [सं० १९९८ वि०]

मोरिस ब्लूमफील्ड— वैदिक कान्कार्डेंस, हार्वार्ड ओरियण्टल सीरीज, संख्या १०, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, [१९६४]

य०— माध्यन्दिन वाजसनेयी शुक्ल यजुर्वेदसंहिता, परोपकारिणी सभा, अजमेर, [१९९९ विक्रमी]

यदभा०— दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेदभाष्य, ४ भाग, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर [वि० सं० १९७९, १९८०, १९८१, १९८२]

राभा०— रावणभाष्यम् जो प्रस्तुत संस्करण में संकलित है ।

रामायणम्— (युद्धकाण्ड), वाल्मीकि, सम्पादक, विश्वबन्धु शास्त्री, डी० ए० वी० कालिज, रिसर्च डिपार्टमैण्ट, लाहौर, [१९४४]

लघुव्याससंहिता— स्मृतिसंदर्भ, भाग ३ पृ०-१६१८-१६३०, मनसुखराय मोर, कलकत्ता [१९५२]

वानिस०— (१) वाररुचनिरुक्तसमुच्चय, सम्पादक–सी० कुन्हनराज, मद्रास, [१९३८]

(२) वररुचि, निरुक्तसमुच्चयः, सम्पादक, युधिष्ठिरमीमांसक, भारतीय प्राच्य-विद्याप्रतिष्ठान, अजमेर, [सं० २०२२]

उद्धरण संकेत संख्या (१) संस्करण के हैं, पृष्ठनिर्देश संख्या (२) संस्करण के हैं।

वासुदेव उ०— वासुदेवोपनिषद्, इलेवन आथर्वण उपनिषद्ज् (में संकलित), कर्नल जौर्ज अ० जेकब, बम्बई [१८९१], पृ० २५ से।

विष्णुस्मृति— स्मृति संदर्भ, भाग १, पृ० ४०१–५४६, मनसुख राय मोर, कलकत्ता [१९५२]

वृद्धहारीतस्मृतिः (संहिता)— स्मृतिसंदर्भ, भाग २, पृ० ९९४– १२३३, मनसुखराय मोर, कलकत्ता [१९५२]

वेभाआआ०— सुधीरकुमार गुप्त, वेदभाष्यकारों का आलोचनात्मक अध्ययन, भारती मन्दिर, जयपुर (केवल पृ० १–१०४ तक ही मुद्रित हुए हैं। यहां इसी अंश का प्रयोग किया गया है।)

वेभाप०— सुधीरकुमार गुप्त, वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन, खुरजा, (१९५६)। प्रमाणों में अध्याय संख्या,

संदर्भ संख्या, (और यदि प्रसंग हो तो, पादटिप्पणी की संख्या) दी गई हैं। (साइक्लोस्टायल)।

वेमा०— वेङ्कट माधव, ऋगर्थदीपिका, लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर-दिल्ली, चार भाग, [१६३६, १६४०, १६४३, १६५५]

वेला०— सुधीरकुमार गुप्त, वेदलावण्यम्–दो भाग, भारती मन्दिर, गोरखपुर, (अब, जयपुर) (१६५६–६०)

वैबिदा०— र० न० दण्डेकर, वैदिक बिब्ल्योग्राफी, दो भाग, कर्नाटक पब्लिशिंग हाऊस, बोम्बे और पूना यूनिवर्सिटी, पूना [१६४६; १६६१]।

श०— शतपथब्राह्मणम्, दो भाग, अच्युतग्रन्थ-मालाकार्यालय, काशी [१६६४; १६६७]

शंखस्मृतिः (संहिता)— स्मृतिसंदर्भ, भाग ३ पृ० १४१५– १४५४; मनसुखराय मोर, कलकत्ता [१६५२]

शतश्लोकी— शंकराचार्य, अनुवादक मुनिलाल, गीताप्रेस, गोरखपुर [वि० सं० १९९२]

सं०— संस्कृत।

सप्र०— दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश, गोविन्द-राम हासानन्द, कलकत्ता, [वि० सं० १९९१]

सा०—	सामवेद (मूल), स्वाध्याय मण्डल, पारडी, [१९५६]
स्कन्द उ०—	स्कन्दोपनिषत्, ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, [१९३२], पृ० ३०७.
स्कन्द ट्रि०—	स्कन्दस्वामी, ऋग्वेदभाष्य, ट्रिवेण्ड्रम (ऋगर्थदीपिका की पादटिप्पणियों में उद्धृत)
स्कन्दस्वामी—	स्कन्द स्वामी, ऋग्वेदभाष्य, सम्पादक, सी० कुन्हन राज, यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास, मद्रास [१९३५]
हासं०—	फ० ए० हाल का रावणभाष्य का संस्करण–रावण एण्ड हिज् कम्मेण्टरी, जर्नल ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, [१८६२], अंक ३१
हिअ०—	हिन्दी अनुवाद।
हिऋ०—	रामगोविन्द त्रिवेदी, हिन्दी ऋग्वेद, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्ज्) लि०, प्रयाग, [१९५४]
√—	धातु का द्योतक चिह्न
( )—	कोष्ठकों में मूल, अनुवाद और परिशिष्टों में ऊपर से उद्धृत भाव के प्रकाशक मूल में अविद्यमान परन्तु अभीष्ट पद रक्खे गए हैं।